श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

खण्ड 2

श्रीहरिः

श्री भागवत दर्शन–

भागवती कथा

(द्वितीय खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'।।

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

अष्टम संस्करण | मूल्य

१००० प्रति | सन् २००५ | २५) रुपया

मुद्रक–सुलेख मुद्रणालय, १४८ हिवेट रोड, इलाहाबाद।

विषय-सूची

	विषय	पृष्ठाङ्क
२१.	सन्त वियोग	३
२२.	शूद्रा माता की मृत्यु	१७
२३.	पुनः नारद शरीर की प्राप्ति	२६
२४.	शान्ति का सरल मार्ग	३४
२५.	श्रीशुक का भागवत पढ़ने का कारण	४१
२६.	परीक्षित् के पूर्वज	४८
२७.	अश्वत्थामा द्वारा पाण्डवों के पाँचों पुत्रों की मृत्यु	५९
२८.	अश्वत्थामा को प्राणदान	७१
२९.	गर्भस्थ परीक्षित् की रक्षा	८१
३०.	कुन्ती की स्तुति	९१
३१.	धर्मराज का पश्चात्ताप	१०४
३२.	भगवान् का पाण्डवों के सहित पितामह के पास गमन	११६
३३.	भीष्म पितामह द्वारा श्रीकृष्ण महिमा वर्णन	१२५
३४.	पितामह का परलोक प्रयाण	१४०
३५.	भगवान का द्वारिका जाने का विचार	१४७
३६.	भगवान का द्वारिका गमन	१५६
३७.	द्वारावती में स्वागत की धूमधाम	१६८
३८.	अन्तःपुर में घनश्याम	१७७
३९.	महाराज परीक्षित् का जन्म	१८६
४०.	महाराज परीक्षित् के जन्म-ग्रहों का फल	१९५

सन्त-वियोग

(२१)

ज्ञानं गुह्यतमं यत् तत् साक्षाद् भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः।।*

(श्री० भा० १ स्क० ५ अ० २ श्लोक)

छप्पय

चातुर्मास्य समाप्त भयो, मुनि चालन लागे।
रोयो, ह्वै अति दीन, दयालु मुनिनिके आगे।।
करुणा कीन्ह कृपालु, प्रेमतें पास बुलायो।
प्रेम प्रकाशक-मधुर, कृष्ण कीरतन करवायो।।
कृष्ण-कीरतन करत ई, भवको भय भागन लग्यो।
प्रेम हृदय जागन लग्यो, गृह-बन्धन लागन लग्यो।।

दैव की कैसी कुत्सित क्रीड़ा है, प्रारब्ध की कैसी विचित्र विडम्बना है। जिनसे हम एक क्षण भी पृथक् होना नहीं चाहते, वे हमें हठात् छोड़कर सदा के लिये चले जाते हैं। जिनके पास हम पल भर भी रहना नहीं चाहते, उनके

---

* उन दीन वत्सल मुनियों ने जाते समय मेरे ऊपर कृपा करके उस गुह्यतम ज्ञान का मुझे उपदेश दिया, जो साक्षात् श्रीभगवान् के ही मुख से किया हुआ है।

साथ आयु भर रहना पड़ता है। जिनको समीप रखना चाहते हैं, वे हजारों कोस दूर पर रहते हैं। जिससे सदा दूर रहना चाहते हैं, वे हमारी छाती पर ही दाल दलते रहते हैं। प्रिय संयोग में ही दुःखद वियोग छिपा हुआ रहता है। वह कहीं से आता नहीं। जैसे ज्वर शरीर में ही रहता है, वह बाहर से नहीं आता। समय आने पर आहार-विहार में व्यतिक्रम होने से अवसर पाकर प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार संयोग से सटा हुआ उसके साथ ही वियोग भी रहता है। पहिले तो वह भोला-भाला बना कछुए की भाँति चुपचाप बैठा रहता है। जहाँ संयोग की अवधि समाप्त हुई, संयोग सुख देकर निवृत्त हुआ कि वियोग अपना पैर फैलाता है।

नारदजी के समाधिस्थ-से हो जाने पर व्यासजी समझ गये कि अब वियोग की कथा आरम्भ होगी। अतः अपने को सम्हालकर बड़ी सावधानी से, बड़ी उत्सुकता के साथ व्यासजी पूछने लगे—"हाँ, तो भगवन् फिर क्या हुआ?"

निराशा के स्वर में नारदजी कहने लगे—"फिर क्या हुआ व्यासजी! जो होना था वही हुआ। 'राजा किसके पाहुने, योगी किसके मीत?" ये वैरागी किन्हीं के होते थोड़े ही हैं। जब ये अपने सगे सम्बन्धियों को छोड़ आये, तो अन्य लोगों की मोह ममता तो इन्हें होने ही क्यों लगी? ऐसे अन्य लोगों से प्रीति करके पीछे मनुष्य के हाथों पश्चाताप ही लगता है। जैसे गेहूँ जौ के फूस में आग लगाकर तापें, थोड़ी देर तो उससे बड़ा ही सुख मिलता है, किन्तु क्षण भर में ही वह अग्नि बुझ जाती है। उसके कोयले तो होते नहीं, जैसे नीम, बबूल की लकड़ी के होते हैं। तनिक देर जला और समाप्त। इसी तरह का प्रेम इन परदेशियों के साथ का है। सुख तो क्षण भर ही देते हैं, किन्तु दुःख में जीवन भर जलाते रहते हैं।

परदेशी की प्रीति फूँस को तापनो।
दियो कलेजो काढ़ हुयो नहीं आपनो।।

चार मास समाप्त हो गये। शरद की पूर्णिमा का निर्मल प्रकाश फैल गया। क्वार बीतने पर कार्तिक लगा। अब महात्माओं के डेरे उठने का समय आ गया। साधु-मण्डली में चलने की चर्चा आरम्भ हुई। सभी का चित्त चञ्चल हो उठा, आनन्द के सागर में एक वियोग की हिलोर ही आ गई। उसने समस्त आश्रम में एक निराशा की-सी घटा घेर दी। अब कथा कीर्तन में पहले जैसा आनन्द न आता। जब मैंने सुना कि ये महात्मा तो अब जाने वाले हैं, तब तो मेरे दुःख का ठिकाना न रहा। मैं किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया। मैं समझे बैठा था अब ये सब महात्मा यही रहेंगे, अब क्या करूँ? हाय! मेरे भाग्य फूट गये। मेरे ही दुर्भाग्य के कारण ये महात्मा यहाँ से जा रहे हैं। अब जब भी उन महात्माओं को देखता, मेरा हृदय भर आता। आँखों में अपने आप ही आँसू आने लगते। हृदय की विचित्र दशा थी, जैसे कोई गीले कपड़े को निचोड़ता है, वैसे ही भीतर-ही-भीतर मेरा मन ऐंठने लगा। हृदय में धड़कन-सी होती, सम्पूर्ण संसार सूना-सूना सा प्रतीत होने लगा। अब भगवान् की चिन्ता तो मैं भूल गया। रात्रि-दिन मुझे यही चिन्ता रहती कि अब मेरा क्या होगा? मेरे बिना मल्लाह की नाव अब बीच मझधार में डगमगाकर डूब ही जायगी क्या? अब मैं उन महात्माओं से दृष्टि बचाने लगा, क्योंकि उन्हें देखते ही हृदय पिघलने लगता। बहुत रोकने पर भी आँसू नहीं रुकते। मेरी आँख बचाकर वे महात्मा भी मेरी ऐसी दशा देखते, किन्तु वे भी कुछ कहते नहीं थे। अब निश्चय हो गया कि कल यहाँ से डेरा उठ जायगा।

आज मेरी व्याकुलता पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। मैं एकान्त में जाकर खूब रोया, रोता ही रहा। रोते-रोते जब कुछ हृदय हलका हुआ तो आश्रम में आया। आज मेरा वहाँ मन ही नहीं लगता था। प्रत्येक वस्तु जो मुझे पहिले सुख देती थी अब काटने को दौड़ने लगीं। मैंने निश्चय कर लिया—चाहे जो हो, मैं इन महात्माओं के साथ-साथ जाऊँगा। यहाँ मेरा है ही कौन? माँ है, सो किसी तरह अपने दिन बिता ही लेगी। ऐसा निश्चय करने पर मुझे कुछ शान्ति मिली। चित्त में कुछ स्वस्थता प्राप्त हुई। किन्तु फिर एक चिन्ता ने आकर धर

दबाया। यदि आचार्य महाराज ने साथ चलने की आज्ञा न दी, तब क्या होगा? इस विचार के आते ही हृदय फिर धड़कने लगा। इतने में ही आशा ने आकर ढाँढ़स बँधाया। अरे, वे महात्मा बड़े दयालु हैं। जब मैं रोकर उनके चरणों में लिपट जाऊँगा, तो मुझे दीन-हीन बालक समझकर अवश्य ही वे अपने चरणों की शरण प्रदान करेंगे। इसी धुना-बुनी में सायंकाल हो गयी। सायं आरती के घण्टे बजने लगे। चारों ओर से अपनी-अपनी कुटियों में से महात्मागण निकल-निकलकर पूजा-स्थल पर जाने लगे। मैं भी सबकी दृष्टि बचाकर एक ओर कोने में खड़ा हो गया। उस दिन मुझे पता ही न चला कब आरती शुरु हुई, कब समाप्त हुई? मुझे पता तब चला जब प्रसाद देने वाले महात्मा ने कहा—"अरे, हरिदास, तू सो गया क्या रे? ले चरणामृत प्रसाद ले।" तब मेरा ध्यान भङ्ग हुआ। चरणामृत प्रसाद लेकर मैं बाहर चला गया। आज महात्माओं की चरण-वन्दना भी न कर सका।

मेरे मन में द्वन्द युद्ध हो रहा था। इच्छा नहीं होती थी आज महात्माओं की चरण सेवा के लिये चलूँ, क्योंकि मैं अपना साहस खो चुका था। बच्चा ही ठहरा, मैं सोचने लगा महाराजजी के सामने मैं अपने को रोक न सकूँगा। फिर भी मन नहीं मानता था। आज ही तो अन्तिम दिन है, पता नहीं कल क्या हो, वे मुझे चरणों में रखें या पृथक् कर दें। यही सोचता रहा। अन्त में मैंने महाराजजी के समीप जाना ही स्थिर किया।

आज कुछ अन्य दिनों की अपेक्षा विलम्ब हो गया था। मैं पैर दबाकर धीरे-धीरे महात्माजी के आसन के समीप गया। वे कुछ झपकी-सी ले रहे थे। धीरे से जाकर मैं तलुओं में घी मलने लगा। उन्होंने कुछ चौंकते हुए कहा—"कौन है, हरिदास? अरे बेटा! तू अभी सोया नहीं?"

मैं कुछ भी न बोला और चरणों में घृत मलता ही रहा। चरणों के स्पर्श मात्र से मेरा हृदय भर आया और आँखों से अश्रु बहने लगे। जब गरम-गरम आँसुओं के विन्दु उनके चरणाविन्दों पर पड़े, तो वे फिर चौंके और बोले—

"हरिदास! तू रो रहा है क्या?"

बस, महाराज का इतना कहना था कि मेरी हिचकियाँ बँध गयीं। मैं उच्च स्वर में फूट-फूटकर रोने लगा। मुझे इस भाँति रोते देखकर वे दयालु मुनि उठकर बैठ गये। मेरे सिर पर अपना सुखद शीतल कर-कमल फेरते हुए बोले—"अरे, हरिदास! तू तो भैया, बड़ा पागल लड़का है। क्यों रोता है, बेटा (फिर पुचकारा) बता क्या बात है?"

मेरा तो गला भरा हुआ था, मुझसे कुछ बोला नहीं जाता था। रोने के सिवाय और कुछ कहने में मैं नितान्त असमर्थ था। मेरा रुदन सुनकर और भी १०-२० महात्मा आ गये। कोई कहने लगा—"महाराजजी, बड़ा सुशील लड़का है। इसे ले चलिये। कोई कहता, महाराजजी, यह आपसे बड़ा स्नेह करता है, आपके बिना यह रह नहीं सकता।"

महाराजजी कुछ भी न बोले। वे बार-बार मेरे शरीर पर हाथ फेर रहे थे और पूछ रहे थे—'तू बता मुझे, तुझे क्या कष्ट है? तू रोता क्यों है। अरे, भाई! हम तो तुझे बड़ा अच्छा समझते थे, तू तो ऐसा रोता है जैसे कोई लड़की हो।"

जब वे बार-बार यही प्रश्न करने लगे, तो मैंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इतना ही कहा—"महाराजजी! कल आप चले जायेंगे। फिर मैं.....।" बस इसके आगे कुछ भी न कह सका। फिर रो पड़ा।

उनका भी हृदय भरा हुआ था। अन्तर इतना ही था कि वे वृद्ध थे, अपने वेग को रोकने में समर्थ थे। मैं बच्चा था मेरा हृदय फूट पड़ता, उसे रोकने में मैं असमर्थ हो जाता।

उन्होंने बनावटी हँसी हँसते हुए कहा—"अरे भैया! हम तो साधु हैं, एक स्थान पर थोड़े ही रहते हैं। एक दिन तो जाना ही है।"

मैंने रोते-रोते कहा—"तो, महाराजजी! मुझे साथ ले चलें।"

महात्मा बड़े जोर से हँसे और बोले—"अब जो भिक्षा मिलती है तू उसे भी बन्द करावेगा। लोग कहेंगे—ये साधु गृहस्थियों के बच्चों को बहका ले

जाते हैं। इससे साधु मात्र के प्रति लोगों के बुरे भाव हो जायँगे।"

मैंने मचलकर कहा—"नहीं महाराजजी! मैं तो आपके बिना यहाँ रह नहीं सकता। आप न ले जायँगे तो मैं गङ्गाजी में कूद पड़ूँगा।"

समस्त ममता बटोरकर वे मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"अरे, तू बड़ा पागल लड़का है रे! देखो भैया! हठ नहीं किया करते हैं। तू अभी बच्चा है, अभी समझता नहीं। तेरी माँ बूढ़ी हो चली, तूही उसका एकमात्र लड़का है। उसकी सेवा करनी चाहिये। माता-पिता सबसे श्रेष्ठ तीर्थ हैं। तू यही रह, फिर हम आते ही रहेंगे। जब तू बड़ा हो जाय, तब चलना हमारे साथ।"

यद्यपि मैं बच्चा था, किन्तु सब समझता था कि ये महात्मा मुझे वैसे ही बहकाने को कह रहे हैं। अब इनका आना कहाँ होता है। रमते राम का क्या पता, गये सो गये। महात्माजी की बात का मैंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं अवश्य ही कल इनके साथ लग लूँगा, चाहे ये मारें चाहे पीटें।

मुझे नीचा सिर किये चुपचाप आँसू बहाते हुए देखकर महाराज ने फिर कहना आरम्भ किया—"बेटा देखों, मन को छोटा नहीं बनाना चाहिये। भगवान् सर्वत्र हैं। यहीं रहकर भगवान का भजन करो। वे बड़े कृपालु हैं, तुम्हारी सभी मनोकामनायें पूर्ण करेंगे। इस तरह नहीं रोते हैं। अरे भैया, तेरी यह बात तो हमारी कुछ समझ में आई नहीं।" फिर प्रेम से पुचकारा, शरीर पर हाथ फेरा और प्यार के साथ कहा—"जा सो जा, बेटा!"

मैं चरणों में प्रणाम करके पास की कुटी में चला गया। मैंने सुना, पीछे महात्माजी सबसे कह रहे थे—'बच्चे का अन्तःकरण बड़ा ही निर्मल होता है। उसमें छल कपट नहीं रहता। साधुता और सरलता रहती है, प्रेम पाते ही अत्यधिक आकृष्ट हो जाता है। बड़े होने पर पूर्व जन्मों के संस्कार हृदय पर प्रभाव जमा लेते हैं। मनुष्य सब स्नेह प्रेम छोड़कर उन्हीं के अनुसार काम करने लगता है। यह लड़का कोई संस्कारी मालूम पड़ता है। इतने दिन साथ

रहा, इसने कभी काम में प्रमाद नहीं किया। कभी किसी का कोई अपराध नहीं किया। सभी का प्रिय बना रहा। ऐसा स्वभाव पूर्वजन्म के अनेक शुभ कर्मों से मिलता है।"

सब महात्मा अपने-अपने आसनों पर चले गये। मैं भी अपनी चटाई पर लेट गया। किन्तु मेरी आँखों में नींद कहाँ? मुझे तो एक ही चिन्ता सता रही थी। कल के वियोग का दृश्य प्रत्यक्ष मेरी आँखों के सामने नाच रहा था। रोते-रोते ही सम्पूर्ण रात्रि बिताई।

प्रातःकाल सबसे पहिले उठकर मैं नित्य कर्म से निवृत्त हुआ। आज आश्रम में सर्वत्र हलचल थी, कोई चिल्ला रहा था, कोई गठरी बाँध रहा था, कोई पूछता था अमुक वस्तु कहाँ है? दूसरा रूखा उत्तर देता—मुझे क्या पता। सब बात मुझसे ही पूछते हैं। मैं कुछ गाँठ में थोड़े ही बाँधे फिरता हूँ। वहीं देख लो। कोई कहता—महाराज! अमुक वस्तु नहीं मिल रही है। आचार्य महाराज सरलता के साथ कहते—"नहीं मिल रही है, तो जाने दो भैया, जो मिल रही है उसे ही गाड़ी में लादो।"

गौओं पर झूले पड़ने लगीं। जल्दी-जल्दी पूजा करके बालभोग बँटने लगा। रसोई और पूजा बर्तन बाँध-बाँधकर गाड़ियों पर लादने लगे। आश्रम में बड़ी खटर-पटर मच गई। कोई इधर-से-उधर दौड़ता, कोई बैलों को लाता। सर्वत्र शीघ्रता हो रही थी। सभी साधुओं के विस्तर बँधने लगे। कोई कहता—गौओं को और गाडियों को हाँक दो, जिससे धीरे-धीरे आगे चलें। दूसरा जोर देकर कहता—"हाँक दो, हाँक दो कह रहे हो, अभी महाराज के आसन का सब सामान तो वहीं पड़ा है।"

इस पर वह दूसरे से कहता—"अजी, तुम बातें कर लेना, पहिले महाराजजी का सामान तो गाड़ी में लादो।" इस पर कई साधु दौड़ जाते। इधर-उधर के सामान को लाकर रख देते। गाँव के बाल बच्चे, स्त्री, पुरुष सब एकत्रित हो गये थे। बच्चों को साधुओं के जाने का कोई दुःख नहीं था,

उन्हें सबसे बड़ा दु:ख यही था कि अब कल से दोनों समय प्रसाद न मिला करेगा। स्त्री, पुरुष खड़े-खड़े आँसू बहा रहें थे। महाराज उन्हें कुछ ऐसे ही समझा रहे थे। मुझसे यह दृश्य नहीं देखा गया, मैं भागकर अपनी माँ के पास चला गया।

जब से महात्मा आये थे, आज ही मैं अपने झोपड़े में गया। उन ब्राह्मण देवता के घर से थोड़ी दूर एकान्त में ही हमारा घर था। घर क्या, मिट्टी की कच्ची दीवाल पर फूँस का एक छप्पर था। उसी में माँ बेटे दोनों रहते थे। मेरी माँ ने मुझे देखते ही पूछा—"महात्मा चले गये क्या, बेटा?" मैंने मुख से कुछ नहीं कहा, केवल सिर हिलाकर संकेत कर दिया कि अभी नहीं गये हैं। मेरी माँ को तो महात्माओं से अन्तिम आशीर्वाद लेना था। वह मेरा हाथ पकड़कर फिर महात्माओं के पास ले गई। गौएँ और गाडियाँ चल रही थीं, सभी साधु विस्तर बाँधे चलने का उपक्रम कर रहे थे। आचार्य महाराज गाँव के स्त्री, पुरुषों से घिरे हुए खड़े थे। मैंने दूर से उन्हें देखा उनकी आँखें उस भीड़ में किसी को खोज रही थीं। आज प्रात:काल से ही मैं उनके सामने नहीं हुआ था। माँ के साथ मुझे आते देखकर उनका चेहरा खिल उठा। मेरी माँ में महात्मा के चरण हुये। मैं माँ की पीछे उससे सटकर उसके अञ्चल से अपना मुँह ढककर खड़ा हो गया। मेरी माँ ने ममता के साथ कहा—"बेटा! महात्माजी को प्रणाम नहीं किया?" मैंने वहीं से खड़े-खड़े दीनों हाथ जोड़ लिये। फिर माँ ने कहा—"ऐसे नहीं बेटा! महात्माओं के पैर छुआ करते हैं। अरे, तुझे अभी तक इतनी समझ भी नहीं।" महात्माजी ने बड़ी सरलता के साथ कहा—"नहीं सब ठीक है, हो गया। कोई बात नहीं। यह तो रोज ही पैर छूता है। तुम्हारा लड़का बड़ा सुशील है, बड़ा होनहार है। इसे बड़े प्रेम से रखना।"

माँ ने दीनता के स्वर में कहा—"मेरा क्या है, महाराजजी! आप सबका है। आपकी दया हो तो जी जाय। यही मेरी बृद्धावस्था की लकड़ी है। इसी का सहारा है। आप ऐसा आशीर्वाद दें कि यह जल्दी बड़ा हो जाय, इसका विवाह हो जाय। यदि नाती का मुँह देखकर मैं मरूँ तो फिर मुझे कोई चिन्ता न रहेगी।"

वा रे, ममता! ५ वर्ष का लड़का है। अभी अच्छी तरह बोलना भी नहीं जानता। माँ नाती के स्वप्न देखती है। व्यासजी! इसी का नाम है माया। महाराजजी ने बहू, नाती का तो आशीर्वाद दिया नहीं, यही कहा—"भगवान् श्री नारायण सब मङ्गल ही करेंगे। तुम भी थोड़ा भगवान का भजन किया करो।" किन्तु मेरी माँ का तो भगवान् मैं ही था और रुनझुन करती हुई बटुआ-सी बहू घर में आ जाय, यही उसकी लक्ष्मी थी। बस, इसके अतिरिक्त उसे और किसी भगवान् की न चिन्ता थी, न आवश्यकता।

महाराज ने मुझे बुलाया। एक वस्त्र और द्रव्य मुझे दिया। द्रव्य तो लेकर मैंने उनके चरणों पर चढ़ा दिया। वस्त्र को श्रद्धा सहित सिर पर रखकर मैंने माँ से कहा—"माँ! चल मुझे बड़ी भूख लगी है।" माँ भी महात्मा को प्रणाम करके मुझे लिये हुए चलती बनी। घर के समीप पहुँचने पर मैंने जोर से भगवान् के नाम की ध्वनि सुनी। माँ ने कहा—"मालूम होता है महात्मा चल दिये। बड़े अच्छे महात्मा थे। मुझे सदा कुछ-न-कुछ देते रहते थे।

मेरे हृदय में तो दूसरी ही बात बैठी थी। मैंने माँ से कहा—"मुझे कुछ खाने को दे, बड़ी भूख लगी है।" माँ ने बासी रोटी मुझे दी है। कुछ खाई कुछ रखी और मैंने कहा—"माँ! मैं खेल आऊँ?" माँ को स्वामी का काम करना था। उसने कोई आपत्ति नहीं की। मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर दौड़ा। बगीचा उजाड़ हो गया था, मानों वहाँ की सम्पूर्ण श्री नष्ट हो गई हो। मैं मुट्ठी बाँधकर दौड़ रहा था, दूर जाते हुए महात्मा दिखाई दिये। मैं वृक्षों की आड़ में अपने को छिपाता हुआ उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। आगे मैदान था कोई वृक्ष नहीं था। दूर से ही किसी महात्मा ने मुझे दौड़ते हुए देख लिया। वे महात्माजी से बोले—"देखिये, महाराजजी? वह लड़का दौड़ा आ रहा है। महाराजजी ने मुड़कर देखा और वे खड़े हो गये। सब महात्मा भी खड़े हो गये। मैं भी खड़ा हो गया। मैं हाँफ रहा था, भागते-भागते थक गया था। मैं निर्णय न कर सका कि पीछे भाग जाऊँ या आगे बढ़ूँ, इतने में ही महाराज ने पुकारा—

"हरिदास! यहाँ आ बेटा!" मुझे साहस हुआ, प्रसन्नता हुई, मैं चला गया। महाराज जी के समीप जाने का साहस नहीं हुआ दूर ही खड़ा रहा। मुझे दूर खड़ा देखकर स्वयं महाराज ही मेरे समीप आ गये। उन्होंने मुझे बड़े स्नेहपूर्वक आलिङ्गन किया और बोले—"तू बड़ा पागल है रे? हमने मना किया फिर भी तू भाग आया।"

"बालानां रोदनं बलम्" बच्चों का बल रोना है। मैं बड़े जोरों से रो पड़ा। मेरे आँसू पोंछते हुए बोले—"बेटा! रोते नहीं हैं। मङ्गलमय भगवान तेरा मङ्गल करेंगे।"

मैंने रोते हुए कहा—"महाराज! मेरा कोई आधार नहीं है। मुझे संसार सूना-सूना दिखाई देता है। मुझे आप अपने चरणों में रख लें, यही मेरी भीख है।"

सब सन्तों का हृदय भर आया। सभी ने कहा—"महाराज जी! हानि क्या है? गौओं की सेवा करेगा।" किन्तु उन बूढ़े महात्मा ने पता नहीं क्या निश्चय कर लिया था। ये महात्मा जितने ही सरल, स्नेही और प्रेम के मूर्ति होते हैं, उतने ही नियम के कठोर और दृढ़ भी होते हैं। उन्होंने मुझे साथ ले जाना स्वीकार नहीं किया। हाँ, मेरे ऊपर कृपा करके मुझे भगवान के ध्यान का उपदेश प्रदान किया। बोले—"देख, हम तुझे आधार बताते हैं। बैठ जा।"

उनकी आज्ञा से मैं बैठ गया। वे स्वयं मेरे सामने आसन बिछाकर पद्मासन मारकर बैठ गये और मुझसे भी इसी आसन में बैठने को कहा। मैं उनकी आज्ञानुसार दृढ़ मुक्त पद्मासन मारकर बैठ गया। उसके लगाने में मुझे तनिक भी प्रयास न हुआ। तब वे बोले—"नित्य प्रति तू जो श्यामसुन्दर की सलौनी मूर्ति के दर्शन करता था, नेत्र बन्द करके उनका ध्यान कर।" मैंने नेत्र बन्द कर लिये। थोड़ी देर के पश्चात् वे बोले—"बेटा! बड़ी सावधानी से भगवान् की मनोहर मूर्ति का चिन्तन कर।" मैं ध्यान करने लगा। भगवान् की मानसिक मूर्ति मेरे सामने चित्रित हो गई।

महाराजजी कहते जाते थे—"देख, भगवान् के चरणों के तलुए कितने चिकने लाल-लाल कोमल हैं। उनके लाल-लाल नखों से चन्द्रमा की किरणों के समान कैसी ज़्योति निकल रही है। उनके चरणों के ऊपर का भाग कैसा चढ़ाव उतार का है। भगवान् के टखने कितने भरे हुए मनोहर हैं। उनकी एड़ियाँ कितनी उठी हुई रक्त वर्ण की हैं। टखनों के ऊपर पिड़रियाँ कितनी गोल-गोल, भरी, द्युतिमान और छोटे-छोटे रोओं से सुशोभित हैं। उनके घुटने कितने भरे सुन्दर और दर्शनीय हैं। उनकी दोनों जाँघें मोटी मनोहर चिकनी और उतार-चढ़ाव की हैं। उनके जघन कितने मांसल, कटि कितनी सूक्ष्म और कर्धनी से युक्त है। गङ्गाजी के आवर्त के समान गहरी गोल कितनी सुन्दर नाभि है। भगवान् का उदर न बहुत बड़ा है, न बहुत दबा हुआ। सुन्दर मांसल और पीपल के पत्ते के समान है। ऊपर देखो, कितना विशाल वक्षस्थल है जिसमें श्रीवत्स का चिह्न विराजमान है। भगवान कैसी तुलसी माला, कौस्तुभमणि से शोभायमान है। भगवान् कैसी ललित त्रिभङ्गी गति से तीन स्थानों से टेढ़े होकर खड़े हैं। उनके दोनों कर कमलों में कैसी मधुर मुरली विराजमान है। वे टेढ़े होकर किस प्रकार थोड़ा ओठों को संकुचित करके बजा रहे हैं। भगवान् के श्रीहस्तों में बाजूबन्द, कङ्कण कैसे शोभित हो रहे हैं। पीताम्बर की फहरान कैसी अद्‌भुत है। बायें कन्धे से बाँसुरी बजाने के कारण थोड़ा पीताम्बर खिसक गया है। बेटा, हरिदास! भगवान् के श्रीकण्ठ का ध्यान करो, शङ्ख के समान कैसा मनोहर उतार-चढ़ाव का है। अब चिबुक का ध्यान करके मधुर मुख पर दृष्टि जमाओ। यही भक्तों का सर्वस्व है। इसी के दर्शनों को असंख्यों जन्म, योग, जप, तप किये जाते हैं। देखो, कैसी मन्द-मन्द मुस्कान है। यह जादू भरी मुस्कान ही भक्तों के हृदय में आन्नद का श्रोत बहाती है। जिसने एक बार इसे देख लिया, उसे जगत्, फीका निस्सार दिखाई देता है। ब्रज की ब्रजाङ्गनायें इसी मुस्कान से मोहित होकर इस पर सदा के लिये निछावर हो गई थीं। दोनों ओष्ठ कितने कोमल, पतले, रस भरे, गोल, सुडौल रसीले अमृत भरे हैं। अधरामृत के स्पर्श के लिये भक्तों की सदा लालसा रहती है। अब

भगवान के कमनीय गोल कपोलों को देखो, जिनमें अरुण वर्ण की आभा सदा छिटकती रहती है, जो सुडौल और भरे हैं। दोनों कपोलों के बीच में श्वास-प्रश्वास लेती हुई नसिका का ध्यान करो कितनी मनोहर है, नथुने कभी फूल जाते हैं, कभी संकुचित हो जाते हैं, ऊपर पतली और क्रम से नीचे की ओर मोटी और गोल होती आ रही हैं। बीच में शुक की चोंच की तरह कैसी नुकीली-सी हो गई है। इसके ऊपर ही दो खिले हुए कमलों के समान नेत्रों के दर्शन करो। हरिदास, सावधान! ये ही भक्तों के सर्वस्व है। ये बाँके विशाल, लाल-लाल डोरों वाले, काली-काली गोल-गोल दो पावन पुतलियों के सदन हैं। जिनकी कोरें कटीली टेढ़ी और हृदय में घुसने वाली हैं। इन नेत्रों के कटाक्षों से घायल न हो जाना। बेटा! ये अमृत के कुण्ड हैं, आनन्द के स्रोत हैं, माधुरी के सागर हैं। ये अनियारे, प्यारे और सुख के सदन हैं। कानों तक फैल् हुए हैं। लाल-लाल गोल गट्ठे वाले, उठे हुए पुष्प गुच्छों से सजे कान कितने कोमल और कमनीय हैं। कमान के समान टेढ़ी ये भौंहे कारी-कारी कितनी कुटिल किन्तु प्यारी लगती हैं। नेत्रों के द्विभाषिये का काम ये ही करती हैं। नेत्रों के भाव को ये ही समझती हैं। इनके ऊपर विशाल, केशर, कस्तूरी के तिलक से सुशोभित मनोहर मस्तक है। चन्दन की खौरि कितनी अनुपम है! काली-काली घुँघराली लटें इसी पर ये लटकर कपोलों का स्पर्श कर रही हैं। सटकारी, प्यारी, स्निग्धता से भीगी ये लटें काली नागिनियों के छोटे बच्चों के समान टेढ़ी-मेढ़ी होकर, विष के स्थान में अमृत का वमन कर रही हैं। मस्तक के ऊपर कुञ्चित कारे-कारे घुँघराले केश हैं, जिस पर मनोहर मोर मुकुट टेढ़ेपन से विराजमान है। यहाँ की सभी वस्तुएँ टेढ़ी ही हैं। हरिदास! देख इस तिरछी मुकुट की लटकन को ध्यान से देख। फिर एक बार सम्पूर्ण अङ्ग का ध्यान कर।" इतना कहकर महाराज चुप हो गये। मुझमें इतनी बुद्धि कहाँ थीं, जो अपने आप ऐसा ध्यान कर सकता। उन्होंने ही अपनी शक्ति से मुझसे ध्यान करा दिया। मैं उसी ध्यान में मग्न हो गया। मुझे पता ही नहीं रहा मैं कहाँ हूँ। पता तो मुझे तब चला, जब महाराजजी ने झकझोर कर मुझे उठाया। सोते

हुए आदमी की तरह निद्रा से उठकर मैं इधर-उधर देखने लगा। महाराजजी ने दृढ़ता से कहा—"देख बेटा! यही ध्यान है। इसी के करने से तुझे परम शान्ति मिलेगी। इसका अभ्यास करने से फिर तेरा सब शोक मोह दूर हो जायेगा।"

अब मैं तुझे एक सार-से-सार, गोपनीय-से-गोपनीय मन्त्र और बताता हूँ। और जितने मन्त्र है कोई सिद्धि देने वाले हैं, कोई किसी कामना को देने वाले हैं, कोई भक्ति देने वाले हैं, कोई मुक्ति देने वाले हैं, किन्तु मैं जो तुझे मन्त्र बताता हूँ वह शुद्ध प्रेम को देने वाला है। इसका कोई नियम नहीं कि यहीं जपो, एकान्त में जपो, बैठकर जपो, शुचि होकर जपो, अमुक समय में जपों, शनैः-शनैः जपो, माला से ही जपो, गिनकर ही जपो, अकेले ही जपो। इसे कैसे भी जपो, धीरे-धीरे जपने की अपेक्षा जोर-जोर से कीर्तन करने का इसका और भी अधिक फल है। अकेले की अपेक्षा सब मिलकर कीर्तन करें, तो और भी सुन्दर है। इसके लिये यह भी नियम नहीं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या यज्ञोपवीतधारी ही इसे जपे या कीर्तन करे। शूद्र , अन्त्यज, म्लेच्छ, स्त्री, पुरुष, बालक, उपनीत, अनुपनीत सभी समान रूप से इसे जपकर, कीर्तन करके परम प्रेम के अधिकारी बन सकते हैं। तुम इसी का निरन्तर कीर्तन करते रहना और मैंने जो ध्यान बताया है, उसे भी अवसर मिलने पर किया करना। वह मन्त्र यह है—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे!
हे नाथ! नारायण वासुदेव!

बस, यही तुम्हारे लिये परम मन्त्र है—महाराज ने इतना कहा और वे आसन उठाकर चल दिये। मैं हक्का-बक्का-सा रह गया। दौड़कर मैंने उनके दोनों चरण कसकर पकड़ लिये और रोते-रोते उन दोनों धूलि भरे चरणों को अपने अश्रुओं से भिगो दिया। उन्होंने मुझे बलपूर्वक उठाया, मेरी धूलि झाड़ी, मुझे प्रेम से पुचकारा, सिर पर हाथ फेरा और बिना कुछ कहे चल दिये।

मैं पत्थर की मूर्ति के समान खड़ा अश्रु बहाता रहा। मेरे पलक नहीं

गिरते थे, आँखें पथरा गयी थीं, मुझे पृथ्वी घूमती-सी दिखाई देती थी, मानों वह मेरी दृष्टि से महात्माओं को अलग ले जा रही हो। जब तक महात्मा दीखते रहे, मैं एक टक भाव से उन्हें ही देखता रहा। जब वे मेरी दृष्टि से ओझल हो गये, तब हृदय पर पत्थर रखकर मैं उस धूल में लोट गया। सम्पूर्ण शरीर में वह पावन रज मली। फिर खड़े होकर देखा—गाड़ियों की, गौओं की उड़ती हुई धूलि दिखाई दी। बड़ी देर तक उसी धूलि को देखता रहा। मेरे दुर्भाग्य से उस दिन भगवान् भुवन भास्कर भी बड़ी ही शीघ्रता से पश्चिम दिशा की ओर दौड़े जा रहे थे। उन्हें इतनी शीघ्रता करते देखकर मुझे कुछ भय भी होने लगा। बालक ही ठहरा, गाँव से दूर आ गया था, महात्मा भी दिखायी नहीं देते थे। अतः इस दिशा को प्रणाम करके, रोते-रोते 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ! नारायण वासुदेव।' इसी प्रेमदाता महामन्त्र का कीर्तन करते-करते गाँव को लौटा। अब मेरे जीवन का आधार यही एक मन्त्र बन गया—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे!
हे नाथ! नारायण वासुदेव!

छप्पय

निर्मोही ये सनत प्यार करिके अपनावें।
किन्तु अन्तमें बधिक सरिस हिय छुरी चलावें।।
गहकि मिलैं जब तलक रहें रस नित बरसावें।
कसकि हिये में छोड़ि निठुर बनिकें भगि जावें।।
साधुनि सँग अति प्रेम करि, जगसुख काहू नहिं लह्यो।
तलफत ई जीवन गयो, रुदन शेष इ रहि गयो।।

शूद्रा माता की मृत्यु

(२२)

एकदा निर्गता गेहाद् दुहतीं निशि गां पथि।
सर्पोऽदशत् पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदिता।।*

(श्री० भा० १ स्क० ६ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

छीन दीन कुल हीन, कृष्णकूँ कैसे पाऊँ।
करुणा सिन्धु कृपालु मिलें केहि मारग जाऊँ।।
हौं सोचूँ नित जिही, गीत माता कछु गावे।
होवे बेटा बड़ो बहू बटुआ-सी आवे।।
माँ के मनकी नाहिं भई, मृत्यु फाँसमें फाँसि गई।
दूध दुहन घरते गई, काल नाग ने डसि लई।।

मनुष्य कुछ और सङ्कल्प करता है, काल उसके विपरीत सङ्कल्प करता

---

* नारदजी अपनी पूर्व जन्म की कथा कहते हुए बता रहे हैं–"व्यासजी! एक दिन मेरी शूद्रा माता रात्रि के समय स्वामी की गौओं को दुहने के निमित्त घर से बाहर निकलीं, उसी समय बिचारी का रास्ते में किसी सर्प के ऊपर पैर पड़ गया। काल प्रेरित उस सर्प ने उसे डस लिया। वह मर गई।"

है तो इसमें विजय काल की होती है क्योंकि काल का सङ्कल्प अमोघ है। काल सदा घात में बैठा रहता है। हम असावधान भले ही हो जायँ, किन्तु काल सदा सावधान रहता है। वह किसी की बात नहीं मानता, वह किसी का शील सङ्कोच नहीं करता। उसने दया करना, क्षमा करना, आलस्य करना सीखा ही नहीं। वह एक क्षण भी नहीं रुकता, उसकी गति अव्याहत है। आपका कितना भी बड़ा काम पड़ा हो, कितना भी मनोहर मनोरथ हो, वह आपकी एक भी नहीं सुनता, अपने समय से नहीं चूकता।

व्यासजी की उत्सुकता नारदजी के पूर्वजन्म के वृत्तान्त के श्रवण से बहुत बढ़ गई थी। उन्होंने बड़ी उत्सुकता के साथ नारद जी से पूछा—"हाँ, तो भगवन्! फिर क्या हुआ? वे महात्मा तो चले गये, बड़े निर्मोही थे। मुझे ऐसा लगता है उन्होंने आपके साथ अन्याय किया। किन्तु यह भी कैसे कहूँ? यदि उनके स्थान पर मैं होता, तो मैं ऐसा ही करने को विवश हो जाता। हम दूसरों की स्थिति बिना समझे ही उन पर दोषारोपण करते हैं। हाँ, तो बताइये आपके ऊपर क्या-क्या बीती, क्या हाल-चाल रहा, कैसे आगे गाड़ी चली? फिर वह शूद्रयोनि का शरीर कहाँ छोड़ा, कैसे छोड़ा, आपकी वह मोहमयी माता क्या हुई? उसका मनोरथ पूर्ण हुआ कि नहीं—आपका विवाह हुआ या नहीं? इन सब बातों को बताइये। मेरे सन्देहों को मिटाइये। आगे का अपना पूर्व जन्म का वृत्त सुनाइये और यह भी समझाइये कि आपको यह इतनी पुरानी पूर्व जन्म की कहानी अब तक याद कैसे रही? हम लोग तो इसी जन्म की बहुत-सी बातों को भूल जाते हैं। इसी जन्म की क्या, कल रात्रि को देखा स्वप्न तक याद नहीं रहता।"

व्यासजी के प्रश्नों को सुनकर नारदजी हँसे और बोले—"व्यासजी! भगवान् स्मृति के सामने कोई बात असम्भव नहीं रह जाती। भगवान् के भजन से सभी सम्भव हो सकता है। भक्त की कोई भी इच्छा ऐसी शेष नहीं रह जाती, जिसे भगवान् पूरी न कर दें। वे चाहें इस लोक के भोग, चाहे स्वर्ग, चाहे मुक्ति भगवान् सभी कुछ देते हैं, किन्तु अभक्तों के कोई भी सङ्कल्प सिद्ध

नहीं होते। प्रारब्ध कर्मों के अनुसार, तप आदि के प्रभाव से यदि उन्हें ऐश्वर्य की प्राप्ति हो भी जाय, तो उससे उन्हें शान्ति नहीं मिलती और अशान्ति बढ़ जाती है। सच्चे हृदय से भगवान् की शरण लेकर, मनुष्यों से कुछ भी आशा न रखकर, जो भगवत् चिन्तन में लगा रहता है, उसकी सभी चिन्तायें प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं। उसके सभी कामों को वे स्वयं अपने हाथों से करते हैं।"

अच्छा, तो सुनिये अब आगे की कहानी। वे ज्ञानोपदेश करने वाले कृपालु सन्त तो चले गये, अब अपने राम रह गये। मैं और मेरी माता एक घर में पास रहते हुए भी हम दोनों विचारों में एक दूसरे से बहुत दूर थे। एक तो वह मेरी माँ कुछ पढ़ी-लिखी नहीं थी, दूसरे अन्य के अधीन थी, तीसरे परिवार की दासी थी और फिर स्त्री ही ठहरी।"

व्यासजी बोले—"क्यों महाराज! स्त्रियाँ भजन नहीं करती हैं क्या?"

नारदजी ने कहा—"ऐसी बात नहीं है, स्त्रियों में भी बहुत-सी भक्ता और भजन-परायणा होती हैं, किन्तु उनमें संसारी आसक्ति बेटा-बहू की ममता-पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। फिर मैं तो अपनी माँ का इकलौता ही बेटा था। अभी देखने में सुन्दर-मुनमुना-सा बच्चा था। वह मुझे बड़े ही प्यार से उठा लेती, गोद में बिठा लेती। मुँह चूमते-चूमते मेरे मुँह को लाल बना देती। मेरा बेटा! मेरा मुन्ना! मेरा सुग्गा! और न जाने क्या-क्या कहती। मुझे यह मोह विष के समान प्रतीत होता। किन्तु करूँ क्या, मेरी गति माँ ही थी। माँ का आधार मैं था। अन्धे लूले के समान हम एक दूसरे से अनिच्छा पूर्वक बँधे हुए थे।"

मुझे बस एक ही चिन्ता थी कि इस माता रूपी मोह जाल से छूटकर कब स्वच्छन्दता से विचरण करूँ। किन्तु कुछ करने में समर्थ नहीं था। एक तो मैं बालक था, ५ वर्ष की मेरी अवस्था थी, मुझे यह भी पता नहीं था, किधर जाना होगा? किस समय किस जगह जाना होगा और किस दिशा में कौन-सा देश है, किधर अरण्य है, कहाँ जाने से साधु सङ्ग मिलेगा? इसी चिन्ता में मेरा

शरीर-सूखने लगा। मुझे घर अच्छा नहीं लगता था, रोटी खाकर गङ्गा किनारे उसी बगीचे में जा बैठता। उन सन्तों की वे सब स्मृतियाँ मेरे हृदय पटल पर नाचने लगतीं। यहाँ कीर्तन होता था, यहाँ सेवा पूजा थी, यहाँ महाराजजी की कुटिया थी, यहाँ भगवान का प्रसाद बनता था, यहाँ गौएँ बँधती थीं, यहाँ कथा होती थी, कितनी चहल-पहल रहती थी उन दिनों। काल की कैसी कुटिल गति है। अब पता नहीं वे सनत किस देश को अलंकृत कर रहे होंगे? अब वहाँ धूम-धाम मची होगी, यहाँ की सब श्री उठकर वहाँ चली गई। वे महापुरुष उत्सव रूप थे। जहाँ वे जाते हैं, वही उत्सव हो जाता है। नित्य उत्सव-तीर्थ स्वरूप हैं।

व्यासजी! इस प्रकार उन सन्तों की स्मृति से भी मेरे अन्तःकरण में सुख का सञ्चार होने लगा। उनकी स्मृति भी सुखद प्रतीत होने लगी। यही नहीं इस स्मृति में मिलन से एक अपूर्व ही मीठे-मीठे दर्द के समान विचित्र अनिर्वचनीय सुख था। वहाँ बैठकर मैं तन्मय होकर—

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे!
हे नाथ नारायण वासुदेव!'

इस मङ्गलमय मधुर मन्त्र का लय के साथ कीर्तन करता। मुझे प्रतीत होता था, दिशायें मेरे स्वर-मे-स्वर मिलाकर मेरे मन्त्र का अनुसरण कर रही है। आकाश ताल दे रहा है, वायु स्वर अलाप रहा है, प्रकृति नृत्य कर रही है और स्वर्गीय देवता जय-जय घोष कर रहे हैं।

जब सङ्कीर्तन से निवृत्त होता, तो ध्यान करता। अँधेरा होने लगता, तो घर आता। घर आते ही माँ पूछती—"बेटा, अब तक कहाँ था? जङ्गल में इतनी रात्रि तक बेटा! नहीं रहते। रीछ बाघ आते हैं, सबेरे ही लौट आया कर। तू वहाँ अकेला क्या करता रहता है?"

मैं कह देता—"माँ, मेरा मन यहाँ नहीं लगता। गङ्गा किनारे जाता हूँ। पके-पके बेर तोड़कर खाता हूँ। वहीं खेलता रहता हूँ। गङ्गा किनारे मुझे बड़ा

अच्छा लगता है।"

उसे तो मेरी प्रसन्नता अभीष्ट थी। जब उसे मालूम हुआ कि मेरा बच्चा बेर खाता है इसका मन लगता है, तो फिर वह कुछ न बोलती। इतना ही कह देती कि दिन छिपे से पहिले ही लौट आया कर। वह मुझे बहुत ठाट-बाट से रखना चाहती थी, अच्छा-अच्छा पदार्थ खिलाना चाहती थी, किन्तु ऐसा कर नहीं सकती थी। दूसरों की दासी ही ठहरी, परतन्त्रता थी। फिर भी भरसक मुझे सुखी रखने की चेष्टा करती।

भगवान् तो भक्तों के सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं। उन्होंने मेरी भी इच्छा पूर्ण की। एक दिन सायंकाल को अपने स्वामी की गौ दुहने के लिये दोहनी लेकर मेरी माँ गोशाला में गई। कृष्ण पक्ष था, सूर्य अस्त हो चुके थे। कुछ झुटपुटा-सा हो रहा था। अँधेरे में उसे दिखाई तो दिया नहीं। वहाँ एक काला भुजङ्ग फन उठाये पड़ा था। मेरी माँ का उसके ऊपर पैर पड़ गया। ज्यों ही उसका पैर पड़ा त्यों ही उसे गुदगुदी-सी कोई वस्तु प्रतीत हुई। उसने चट से पैर उठाना चाहा ही था कि क्रुद्ध सर्प ने फुफकारते हुए पट से पैर में काट लिया। माता कटे केले की भाँति व्याकुल होकर खट से पृथ्वी पर गिर पड़ी और उसके प्राण पखेरू झट से परलोक के लिये प्रयाण कर गये। केवल माँ का निर्जीव शरीर ही वहाँ पड़ा रह गया।

मैं तो उस समय उसी बगीचे में बैठा ध्यान कर रहा था। हल्ला करते हुए लड़कों ने आकर मेरा ध्यान भङ्ग किया और हाँफते हुए आकर कहने लगे—"अरे हरी! तू यार, यहाँ बैठा है तेरी तो महतारी मर गई।"

मैंने जोर देकर पूछा—"क्या कहा, सचमुच मर गई?"

लड़को ने बात पर बल देते हुए कहा—"नहीं तो क्या हम झूठ बोलते हैं? तू जाकर अभी देख ले। वहीं गोशाला में पड़ी है। करियल साँप ने उसे डँस लिया।"

मैंने सन्तोष की साँस ली। भगवान् को बार-बार धन्यवाद दिया कि

फोड़ा फूटा पीर गई। अब न रहा बाँस न बजेगी बाँसुरी। माया मोह को श्यामसुन्दर ने स्वयं ही हर लिया।

लड़को के साथ मैं गोशाला में गया। वहाँ माँ मरी हुई पड़ी थी। उसके सभी मनोरथ विफल हो गये। उसे डर था कि मौ कहीं उसे छोड़कर चला न जाऊँ। मेरे जाने के पहिले वही मुझे सदा के लिये छोड़कर चली गई। मैं रोया नहीं, आँसू नहीं बहाये।

लड़कों ने कहा—"तेरा हृदय बड़ा पत्थर का है रे! तेरी माँ मर गई और तू रोया तक नहीं।"

मैंने कहा—"भाई इसमें रोने की क्या बात है। मेरी माँ मरी थोड़े ही है। वह तो स्वर्ग को गई है। यहाँ तो उसे दिन भर काम करना पड़ता था, वहां सुख से रहेगी। भैया! तुम एक काम करो, इसे घर ले चलो।"

लड़को के लिए एक नया खेल हो गया। किसी ने पैर पकड़े, किसी ने सिर पकड़ा, किसी ने बाल पकड़े, सब उसे खींचते घसीटते धर लाये ओर १०-५ आदमी भी आकर मेरे साथ सहानुभूति प्रकट करने लगे। कुछ लोगों ने कहा—अब रात्रि में तो क्या होगा। प्रातः इसे श्मसान में जलाने को ले चलेंगे।

मैंने यह कहा मेरी माँ श्मसान में न जलेगी। उसे यह घर बहुत प्रिय था। मैं तो इसी में उसे जलाऊँगा। लोगों ने लड़कपन समझा। हमारे स्वामी ने मुझसे घर चलने को कहा मैं नहीं गया। मैंने कहा—"मैं तो माँ का दाह-संस्कार करके ही कहीं जाऊँगा। सब लोग अपने-अपने धर चले गये। मैं कहीं से ४-५ उपले ले आया। आग माँग लाया। फूँस लेकर आग जलाई और छप्पर में दे दी। और कहा—'माँ अब तू अपने घर रह मैं अपने घर जा रहा हूँ। यह कहकर मैं बगीचे में गङ्गा किनारे चला गया। मन कहता था—'चल!' मैं पूछता था कहाँ?"

इसका वह कुछ उत्तर नहीं देता है। मैं बिना सोचे समझे ही अलक्षित मार्ग की ओर चल पड़ा। अनुमान से वह उत्तर दिशा थी। मेरा कोई निर्दिष्ट

लक्ष्य नहीं था, कोई निश्चित गन्तव्य स्थान नहीं था। कहाँ जा रहा हूँ? इसका कोई निर्णय नहीं। मन कहता था—चलाचल! मैं आँखे मूँदे चला जा रहा था। कुछ नींद-सी आने लगी। एक गहन वृक्ष के नीचे पड़ गया, किन्तु नैनों में नींद कहाँ? वैसे ही पड़ रहा। जब अरुणोदय का समय हुआ, वृक्षों पर अपने घोंसलों में बैठे पक्षी कलरव करने लगे, तो मैं उठ पड़ा और फिर चल दिया। बड़ा मनोरम था वह देश। कभी तो अहीरों के गाँव के बाहर झोंपड़े आ जाते, पास में ही उनकी गोशालायें होती जिनमें हजारों लाखों गौएँ बैठी जुगार कर रही थीं, कहीं उनके बच्चे किलोल कर रहे थे, कहीं दूध दुहा जा रहा था, कहीं दही मथा जा रहा था, मक्खन तपाकर घी बनाया जा रहा था, कहीं कुछ लड़के बैठे मट्ठा ही पी रहे थे, मैं रुका नहीं, चलता ही गया। कभी छोटे-छोटे ग्राम दिखाई देते जिनके बाहर गोबर की कण्डियों के बड़े-बड़े बिटौरे खड़े थे, कहीं भूसे की बुर्जियाँ खड़ी थी, कहीं कुओं पर स्त्रियाँ पानी भर रही थीं। स्त्रियाँ मुझे देखती और आपस में कहने लगतीं—'पता नहीं, यह किसका बच्चा भटक गया है। इसके कोई साथ भी नहीं है।' कोई बड़ी बूढ़ी बुलाकर प्यार से पूछती—'बेटा, किसका लड़का है? कहाँ जा रहा है? तेरे साथी कहाँ बिछुड़ गये?' मैं कुछ भी न कहता, आगे चल देता। कोई बड़ा-सा नगर मिलता जिसमें १०-२० दुकानें भी होतीं। कोई बड़ी भारी राजधानी दिखायी देती जिसमें राजा के महल, बाग बगीचे, फुलवारी, सड़कें स्वच्छ सुन्दर रमणीक मार्ग बने हुए, दिखायी देते। शुभ्र स्वच्छ वस्त्र पहिने नागरिक नर-नारी इधर-से-उधर जाते हुए दीख पड़ते। बहुत से नदियों में स्नान करते हुए दीखते, बहुत से देव मन्दिरों में पूजा करते हुए दृष्टिगोचर होते। मैं किसी की ओर नहीं देखता और आगे बढ़ता ही जाता। कभी-कभी किसी बड़ी बस्ती के बाहर सुन्दर फला-फूला बगीचा दिखाई देता। समीप ही साफ सुन्दर सुस्वादु जल से भरा हुआ पक्के घाटों वाला विमल सरोवर होता। मेरा मन किसी भी प्रलोभन में नहीं फँसता, वह कहता—बस, कहीं रुको मत, आगे चले ही चलो। मैं भी मन की बात मानकर यन्त्र के समान चला ही जाता।

अब शनैः-शनैः बस्तियों के श्रृङ्खला समाप्त हुई। अब आगे गहन वन के लक्षण दिखाई देने लगे। मैंने उस गहन वन में प्रवेश किया। वह इतना सघन था कि कहीं-कहीं तो मुझे झुक कर किसी झाड़ी के भीतर से जाना पड़ता। बड़े-बड़े बाँसों के वृक्ष थे, जो एक दूसरे से वायु के द्वारा हिलाये जाने पर रगड़ खा रहे थे। कहीं सरकण्डों के पेड़ थे तो कहीं कटीली कुशायें ही मेरे कोमल पैरों में गड़कर पीड़ा पहुँचा रही थी। काँटेदार बहुत से सघन और पंक्ति-की-पंक्ति पेड़ खड़े थे। उनका कोई क्रम नहीं था। किसी ने उन्हें नापकर श्रेणीबद्ध नहीं लगाया था। वह इतना सघन था कि साधारण साहस के पुरुश का उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था। मनुष्य के तो उसमें दर्शन ही दुर्लभ थे। जङ्गली और विषैले जानवरों का ही वहाँ प्राबल्य था। कभी सामने से सर्र से साँप निकल गया, कहीं पास ही डंङ्क उठाये बड़े-बड़े विष वाले बिच्छू विचरण कर रहे थे, कहीं सियार रो रहे थे, कहीं ऊदबिलाव भाग रहे थे, कहीं उल्लू घू-घू कर रहे थे। कभी सिंह की गर्जन सुनाई देती, कभी पास ही चिध्धाड़ता हुआ हाथी दिखाई देता, कहीं चीते की खोह दिखाई देती, कहीं रीछ दोनों हाथों को उठाये किसी पेड़ से फल खाता हुआ दीखता। अब मुझे कुछ-कुछ भय-सा प्रतीत होने लगा। चारों ओर दृष्टि उठाकर देखूँ तो जङ्गल-ही-जङ्गल दिखाई दे। कहीं बस्ती का नाम नहीं। न मनुष्य, न मनुष्य की परछाईं। पैरों ने भी अब जबाब दे दिया। इन्द्रियाँ भी सभी शिथिल पड़ गयीं। भूख प्यास ने भी आकर अपना राग अलापना आरम्भ किया। पेट कुलबुलाने लगा। उसमें चूहे से फुदकते प्रतीत हुए। प्यास से कण्ठ भी सूखा जा रहा था। चारों ओर दृष्टि डालूँ तो पेड़ों के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दे। तब मैं एक पेड़ पर चढ़ गया। ऊपर से मैंने देखा—पास ही एक नदी का तट है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पेड़ में उतरकर मैं उसी ओर बढ़ा। थोड़े ही समय में मैं सरिता के समीप पहुँच गया।

उस नदी का जली कितना स्वच्छ, सुन्दर, निर्मल और शीतल था। उसकी व्यासजी। मैं प्रशंसा नहीं कर सकता। या यों कह लीजिये कि उस

समय मैं बहुत थका, भूखा, प्यासा पानी की ही प्रतीक्षा में था। भूख प्यास में ही अन्न जल का यथार्थ स्वाद आता है। नदी में ही कुण्ड-सा था। नदी बहुत बड़ी नहीं थी, किन्तु पहाड़ी होने से बड़ी वेगवती थी। मैंने घुसकर उसमें स्नान किया। स्नान करते ही शरीर फूल कीतरह हलका हो गया। सभी श्रम ग्लानि मिट गई, चित्त में प्रसन्नता आ गई। इन्द्रियाँ सभी स्वस्थ हुईं। मैंने खूब भर पेट पानी पिया। उस पानी में मुझे अमृत के समान स्वाद प्रतीत हुआ। पानी के पीते ही भूख प्यास सभी भाग गई।

पास में एक अत्यन्त ही घना पीपल का पेड़ था। उसके नीचे मैं आसन मारकर बैठ गया। अब मुझे उन्हीं मुनि ने बताये हुए ध्यान की समृति आई। हृदय माँ के मरने से आर्द्र हो गया था। अरण्य को देखकर वैराग्य बढ़ गया था। मैं उसी प्रकार प्रेमपूर्वक श्रद्धा के साथ भागवत् ध्यान में प्रवृत्त हुआ। इतना कहते-कहते नारदजी का गला भर आया। वे चुप हो गये।

इस पर थोड़ी देर ठहरकर व्यासजी ने पूछा—"हाँ, भगवन्! फिर क्या हुआ। आपने तो मेरी उत्सुकता आवश्यकता से अधिक बढ़ा दी।"

नारदजी ने अपने बहते हुए प्रेमाश्रुओं को पोंछा, कमण्डलु के जल से अवसान किया और फिर कहने लगे—"व्यासजी! आगे की बात कहने की नहीं, अनुभव की है। उसे मैं आपके सम्मुख कहूँगा। थोड़ा मुझे ध्यान कर लेने दीजिये।" इतना कहरकर नारदजी नेत्र बन्द करके ध्यान में मग्न हो गये।

छप्पय

मोहमयी मम मातु मरी मैं घरतें भाग्यो।
जरी जगतकी आस, कृष्ण चरननि चित लाग्यो।।
देश, नगर, नद, नदी, लाँघि निरजन वन आयो।
न्हायो सरिता सलिल पान करि ध्यान लगायो।।
ध्यान करत ई चित्तकी, चिन्ता सबरी नसि गई।
मनमोहनकी माधुरी, मन मेरेमें बसि गई।।

पुनः नारद शरीर की प्राप्ति

(२३)

देव दत्तमिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम्।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्याम्।।*

(श्री० भा० १ स्क० ६ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

भक्ति भावतें भरित हृदयमें हरिजी आये।
करत दरश तनु पुलक, अश्रु नयननिमें छाये।।
अति उत्कण्ठा बढ़ी, शान्ति सरिता पय पूर्‌यो।
प्रेम बाढ़में बह्यो, चित्त आनन्दमें डूब्यो।।
ध्यान ध्येय ध्याता सभी, ध्येय वस्तुमें मिलि गये।
दर्शन देके दयानिधि, तुरत चित्तमें चलि गये।।

एक बार जिसने जिस वस्तु का रसास्वादन कर लिया है उसका स्मरण आते ही उसके रस का चित्र अङ्कित हो जाता है। स्मरण आते ही उसके रस का अनुभव मन में होने लगता है। अन्तःकरण उसके स्पर्श का अनुभव करने लगता है। संसारी सुखों की स्मृति तो साधन वैराग्य द्वारा किसी तरह भुलाई भी

---

* श्री दयानिधि की दी हुई इस स्वरब्रह्मविभूषिता वीणा को बजाता हुआ, हरि गुण गाता हुआ, हे व्यासजी! मैं चौदह भुवनों में भ्रमण करता रहता हूँ।

जा सकती है, किन्तु अनिर्वचनीय सुख को—जहाँ जाकर मन आनन्द के सागर में मग्न हो जाता है—गोता लगाने लगता है—उसे भुलाना असम्भव है, आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि वही तो एकमात्र स्मरणीय वस्तु है।

नारदजी को पूर्व जन्म में जिस प्रकार हृदय में भगवत् कृपा का साक्षात्कार हुआ, जिस प्रकार उनके शुद्ध अन्तःकरण में परम प्रेमास्पद प्रभु का प्रादुर्भाव हुआ, उसी की स्मृति मात्र से ही उनका हृदय भर आया। शरीर रोमांचित होगया। कण्ठ गद्गद होने से आगे कुछ कह न सके। नेत्रों में अश्रुओं की बाढ़-सी आ गई। अश्रु पोंछकर फिर उन्होंने ध्यान किया। उस रस का ध्यानावस्था में पुनः आस्वादन किया। ध्यान के अनन्तर फिर बड़े कष्ट से उन्होंने ऊपरी वृत्ति को बाहर की ओर किया। वाह्य वृत्ति होने पर भी चित्त का कुछ भाग उसी आनन्द में विभोर हो रहा था। उसी आवेग में वे कहने लगे।

नारदजी ने कहा—"व्यासजी! आगे की बात आपसे कैसे कहूँ। उस समय बढ़े हुए प्रेम के वेग से मेरा सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठा। हृदय में शान्ति की हिलोर उठने लगी। मन आनन्द सागर में निमग्न हो गया। यह दृश्यमान जगत एकदम विलीन हो गया। मैं अपने आपको भी भूल गया। श्यामसुन्दर के हृदयहारी सौन्दर्य लावण्य में चित्त विलीन हो गया। थोड़े ही समय के पश्चात् क्या देखता हूँ कि भगवान् की वह बाँकी झाँकी अब हृदय में नहीं होती। सहसा वह छटा आकाश में बिजली की भाँति विलीन हो गई। आनन्द सागर में से उछलकर चित्त चिन्ता के पङ्क में फँस गया। सर्वस्व गँवाये हुए व्यापारी की भाँति व्याकुल होकर मन इधर-उधर भटकने लगा। जिस संसार को भूल गया था, उसके पुनः प्रादुर्भाव होने लगा। मैं जलहीन मछली की भाँति तड़फड़ाने लगा, फिर सावधान होकर आसन बाँधकर बैठा, नेत्रों को बन्द किया पुनः ध्यान किया, किन्तु वह सुखद शान्ति, वह कमनीय कान्ति अब कहाँ? उससे मेरी उत्कण्ठा और भी बढ़ी। जैसे अत्यन्त बुभुक्षत पुरुष को एक अत्यन्त ही मधुर रसगुल्ला देकर, फिर उसके सामने से सभी सुन्दर

सामानों से सजे सजाये पात्र को सहसा हटा लिया जाय, उसे उस समय जैसा दुख होता है, उससे भी अधिक दुःख मुझे हुआ। मैं अभी अत्यन्त ही अतृप्त था, जो रूप मेरी तृप्ति कर सकता था, वह क्षण भर में ही विलीन हो गया। मैं जब बार-बार प्रयत्न करने पर भी उसे पुनः प्राप्त न कर सका, तो उसी दुख से दुखी होकर रोने लगा। व्याकुलता के कारण मैं किङ्कर्तव्य विमूढ़ बन गया। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मेरे दुःख को मिटावेगा, कौन मुझे पुनः उस सुख की प्राप्ति का मार्ग बतावेगा? यह सब सोच ही रहा था कि मुझे एक गम्भीर वाणी सुनाई दी। मैं चौंकर चारों ओर नेत्र फैलाकर देखने लगा कि यह वाणी कहाँ से आती है कौन कहता है, कहने वाला कैसा है, कहाँ है, किससे कह रहा है? उस वाणी को आकाश से ही आते देखकर और उसके कहने वाले को न देखकर, मै समझ गया कि यह अशरीरी आकाशवाणी ही है और मेरे ही उद्‌देश्य से कही जा रही है।

आकाशवाणी ने कहा—"बच्चा! अब तुम्हारा प्रयत्न सफल न होगा। अब तुम्हें मेरे पुनः इस रूप में—इस शरीर से-दर्शन होने दुर्लभ हैं।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"जिसने मेरे ऊपर इतनी कृपा की है, वह देववाणी मुझे यह भी बतावे कि मुझे इस शरीर से अब ऐसे दर्शन क्यों न होंगे?"

आकाशवाणी ने कहा—"अभी तुम्हारे मन के कषाय दूर नहीं हुए। अभी संयम की अपेक्षा है। अभी साधन की कमी है और अधिक अभ्यास से हर समय दर्शन हुआ करेंगे। जिनकी सम्पूर्ण वासनायें पूर्णतया शान्त नहीं हो जातीं, उन कुयोगियों को मेरा दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ है।"

हाथ जोड़े हुए मैंने फिर कहा—"तब फिर एक बार यह दर्शन क्यों हुआ? मैं तो सर्वथा साधनहीन, मतिमलीन, हीन कुल में उत्पन्न बालक हूँ। मुझे यह देवदुर्लभ सुख एक बार क्यों मिला?"

आकाशवाणी ने कहा—"यह दर्शन तुम्हारी उत्कण्ठा को बढ़ाने के लिये

हुआ। तुम्हारी इच्छा को बलवती बनाने को ही तुम्हारे अन्तःकरण में मैं प्रादुर्भूत हुआ। दीर्घकाल तक तुमने श्रद्धा से साधु सेवा की है, उसी के परिणाम स्वरूप तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हुआ है। उसी से तुम्हें मेरे दर्शनों का यह एक बार सुख प्राप्त हुआ है। अब जब तुम इस अधम शरीर को त्यागकर फिर दिव्य शरीर प्राप्त करोगे, तो तुम्हें पुनः ऐसा सुयोग्य प्राप्त होगा।"

मैंने आकाशवाणी से पूछा—"मैं फिर जो मायाजाल में न फँस जाऊँगा? मुझे पुनः इस अलौकिक रूप की विस्मृति तो न हो जायगी?"

आकाशवाणी ने कहा—"मुझमें लगी तुम्हारी बुद्धि कभी नष्ट न होगी। अब तुम कभी संसारी चक्कर मेंनहीं फँस सकते माया तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। अगले जन्म में तुम मेरे अत्यन्त प्रिय पार्षद निजी जन होगे, मेरे अभिन्न रूप ही होंगे मेरा दूसरा अवतार स्वरूप ही माने जाओगे और पूर्व जन्म की ये सब स्मृतियाँ तुम्हें ज्यों-की-त्यों बनी रहेंगी।"

यह नभ वाणी क्या थी, अव्यक्त रूप से भगवान् वासुदेव ही बोल रहे थे। मेरे ऊपर कृपा करके वे मुझे आगे का कर्तव्य सुझा रहे थे। हरि के नाम और गुणों में मेरी उत्कण्ठा बढ़ा रहे थे, काल के भय से मुझे निर्भय बना रहे थे, शरीर को प्रारब्ध पर छोड़ दो, यह पाठ पढ़ा रहे थे। मुझे मन से प्रसन्नता हुई, उस महान्-से-महान् भूमा पुरुष को जो दिखाई नहीं देते थे, किन्तु उनकी सत्ता वहाँ विद्यमान थी, उन सर्वत्र व्यापक अच्युत को श्रद्धा-भक्ति से मैंने प्रणाम किया। अब तो मुझे निश्चय हो गया कि इस शरीर से भगवान् के अब उस प्रकार के दर्शन दुर्लभ है, अब दूसरे जन्म में भगवत् कृपा का परम पात्र बन सकूँगा। अतः प्रारब्धों को भोगता हुआ। शरीर-पात की प्रतीक्षा करने लगा।

मनुष्य को तभी तक भय रहता है, जब तक वह मरने से डरता है। जिसने मृत्यु को अवश्यम्भावी समझकर उसके भय का परित्याग कर दिया है। जिसने अपने सिर को हथेली पर रख लिया है, जिसे जीने का व्यर्थ मोह नहीं है, वह मृत्यु से न डरने वाला—हर समय उसके लिये तैयार बैठा रहने वाला

पुरुष—संसार में सब कुछ कर सकता है। सो व्यासजी! अब मुझे शरीर को मोह तो रहा नहीं। यही नहीं, यह शरीर मुझे भार-सा प्रतीत होने लगा। भगवत् दर्शन में अन्तराय दिखाई देने लगा। मैं मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगा। कब काल आवे और कब मैं उसका स्वागत-सत्कार करके उसके कण्ठ में जयमाल पहिनाऊँ और उसके साथ-ही-साथ उसके निर्दिष्ट लोक में जाऊँ। काल की शङ्का निवृत्त हो गई, जीवन का एकमात्र कर्तव्य परम मधुर भगवान् के नामों का गान करना, उनकी दिव्य ललित लीलाओं का चिन्तन करना और उनके परम माधुर्यमय, आनन्दमय लोकोत्तर गुणों का स्मरण करना ही है। इस बात का निश्चय हो गया। अब तो मद, मत्सर से शून्य, प्रसन्न चित्त तथा निसपृह होकर पृथ्वी पर इधर-से-उधर भ्रमण करने लगा। मैंने संसारी लोक-लाज को तिलांजलि दे दी। परमार्थ साधन में—संसारी लोग हमें क्या कहेंगे, हमारे इस भजन पूजन को देखकर हँसेंगे—इस प्रकार की लज्जा होना बड़ा भारी विघ्न है। संसारी लोग तो अपने व्यवहार में निर्लज्ज होकर लगे रहते हैं। वे इन क्षुद्र सुखों के पीछे सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीहरि को सदा भूले रहते हैं। सौन्दर्य माधुर्य के एक-मात्र स्थान भगवान् वासुदेव की उपेक्षा करके इन ईंट, पत्थर चमकती हुई पृथ्वी का विकार भूत इन धातुओं और मांस मज्जा के इन पिण्डों के पीछे सर्वान्तर्यामी जगत्पति, विश्वनाथ को भूल जाना, इन विषयों के लिये भाँति-भाँति के छल, छिद्र, कपट, धूर्तता करना, झूठ-सच व्यवहार करना, क्या यह लज्जा की बात नहीं है? जब वे भगवान से भी लज्जा नहीं करते, तो हम परमार्थ साधन इन क्षुद्र संसारी लोगों के सङ्कोच से अपने सुखद साधन के करने में क्यों संकुचित हों? हमें निर्भय होकर अपने प्राणबल्लभ को रिझाना चाहिये। अपना साधन अपने प्रेम के लिये करना चाहिये, न कि किसी को दिखाने और बताने के लिये।

मैंने भी संसार को उपेक्षा कर दी। संसारी लोग क्या समझेंगे, इसकी चिन्ता करना मैंने छोड़ दिया। उनकी समझ अपनी हैं, वे जो चाहें समझें, हमने किसी की समझ का ठेका थोड़े ही लिया है। मैं पागलों की तरह जोर-जोर से

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ! नारायण वासुदेव!' मङ्गलमय भगवान के नामों का गान करता। उनका स्वर के सहित कीर्तन करता। नाम गान करते-करते नृत्य भी करने लगता। कभी-कभी गाँव के बालक आकर मुझे घेर लेते और पागल समझकर वे भी मेरे साथ हँसी में कीर्तन करने लगते।

भय मेरा भग गया था। इसलिये निर्भय होकर जङ्गली जानवरों के पास चला जाता। बाघ, सिंह जो भी आ जाता उससे लिपट जाता, उसके मुख में अपना हाथ देता। वह सूँघकर चला जाता, कुछ भी न बोलता। रीछ, भालू दिखाई देता, तो मैं उसके बाल पकड़ लेता और उसकी पीठ पर चढ़ जाता, उनके दोनों आगे के हाथों को पकड़कर नाम गायन करता हुआ उसके साथ नोचने लगता, वह कुछ भी न बोलता। इससे हे महाभाग व्यासजी! मुझे निश्चय हो गया कि मनुष्य मृत्यु से व्यर्थ ही डरता है, जब तक मृत्यु का समय नहीं, तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी मृत्यु नहीं आ सकती। जिस क्षण समय पूरा हो जायगा, उस क्षण करोड़ों प्रयत्न करने पर भी काल से कोई बचा नहीं सकता। हम चाहें न जानें, किन्तु मृत्यु का समय निश्चित है, वह उसी समय आ जाती है और अप्रमत्त होकर प्राणी को पकड़ ले जाती है। मेरी मृत्यु का अभी समय नहीं था। इसलिये व्याघ्र, सरभ, सूकर, रीछ, भालू कोई भी मुझसे न बोलता। इस प्रकार नाम गान करता हुआ मैं पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने लगा।

जिसने जन्म धारण किया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। उसे कोई टाल नहीं सकता, अन्यथा नहीं कर सकता। प्रारब्ध की समाप्ति तक यह शरीर अवश्य रहेगा। प्रारब्ध का अन्त होते ही यह निष्प्राण हो जायगा। समय आने पर मेरे शरीर का प्रारब्ध समाप्त हुआ। जैसे आकाश में बिजली चमककर विलीन हो जाती है। जैसे कल के दुर्बल वृक्ष बाढ़ आते ही उसमें बह जाते हैं, उसी प्रकार मृत्यु ने आकर मेरे शरीर में प्राणों से पृथक् कर दिया। उस मानुषी शरीर को त्यागकर मैं ब्रह्माजी के श्वाँस के साथ, उनके शरीर में घुसकर-उनके साथ ही-शेषशैया पर शयन करते हुए सर्वेश्वर के साथ सो गया।

व्यासजी ने कहा—"महाराज! यह क्या कह दिया। ब्रह्माजी कहाँ, शेषशैया हरि कहाँ, आप कहाँ? कैसे आप उनके शरीर में प्रवेश कर गये?"

नारदजी ने कहा—"व्यासजी! संयोग की बात कि उसी समय कल्प के अन्त का समय उपस्थित हुआ था। ब्रह्माजी सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को अपने में विलीन करके क्षीरशायी भगवान के शरीर के भीतर सोने के लिये उत्सुक थे। उसी समय उनकी स्वास के साथ मेरा भी जीवात्मा उन्हीं में प्रवेश कर गया। अब एक हजार युगों के चौकड़ी तक तो ब्रह्माजी सृष्टि कर ही नहीं सकते थे। वह तो उनके शयन का-विश्राम का-समय था। मैंने भी उनके साथ ही लेट लगाई और इन संसारी नारकीय शरीरों से मुक्ति पाई।

जैसे मनुष्यों के दिन-रात्रि होते हैं, वैसे ही सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चारों युग हजार-हजार बार बीत जाते हैं, तो ब्रह्माजी का एक दिन होता है, उतनी ही बड़ी एक रात्रि। इसे कल्प या परिवर्तन कहते हैं। जब ब्रह्माजी की रात्रि व्यतीत हुई और उठते ही फिर वे सृष्टि की प्रपञ्च रचना में प्रवृत्त हुए। उनकी इन्द्रियों से मानसिक सङ्कल्प के द्वारा मरीच, अत्रि, अङ्गिरा आदि बहुत से पुत्र उत्पन्न हुए। उसी समय उनकी गोद से मैं भी उत्पन्न हो गया। हम लोगों से पूर्व हमारे चार बड़े भाई सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार उत्पन्न हुए। उन्होंने लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा के कहने पर भी सृष्टि रचना में योग नहीं दिया। उनसे पीछे जो ऋषि हुए, उन्होंने प्रजा सृजन रूपी कार्य किया। इसी से वे सब प्रजापति कहलाये। मैं भी सृष्टि रचना के झंझट में नहीं पड़ा, मैंने भी अपने पूर्वजों के पथ का अनुसरण किया। उन जगत्प्रभु, महाविष्णु भगवान् वासुदेव की कृपा से मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हूँ।

भगवान् ने प्रसन्न होकर मुझसे पूछा—"नारद! तुम क्या चाहते हो? तुम्हें कौन-सी बात अधिक रुचिकर है। तुम मुझसे कोई सर्वश्रेष्ठ वरदान माँग लो।"

मैंने विनीत भाव से कहा—"प्रभो! कोई आपको तप से, संयम से, सद्गुणों से ही प्रसन्न करना चाहें, तो असम्भव है। आप इतने महान् हैं कि आपके अनुरूप उत्तम आचरण, तपस्या आदि कोई कर ही नहीं सकता।

आपकी प्रसन्नता अहैतुकी है। आप अपनी ही कृपा के द्वारा प्रसन्न भले ही हो जायँ, आपका अनुग्रह साधन-साध्य नहीं, कृपा साध्य है। जब आप ही मुझ पर प्रसन्न है, तब फिर मुझे अन्य वर की क्या आवश्यकता? आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिये महान् वरदान है। फिर भी आज्ञा है, तो मैं यही वरदान माँगता हूँ कि मैं सदा आपका गुणगान करता रहूँ। एक क्षण भी ऐसा न व्यतीत हो, जिस समय आपके मङ्गल नामों का मुख से उच्चारण न हो।"

भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"नारद! मैं तुम्हारी भक्ति से बहुत प्रसन्न हूँ। लो, तुम इस वीणा को सम्हालो, यह षट्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्य, पञ्चम, धैवत और निषाद इस सात स्वरों से संयुक्त है, बड़ी मनोरमा है। इसे बजाकर तुम मेरे गुण गाया करो। अब तुम्हें मेरे दर्शनों के लिये प्रयास न करना पड़ेगा। जहाँ तुम प्रेम से गाओगे कि मैं क्षीरसागर, वैकुण्ठ, लक्ष्मी सभी को छोड़-छाड़कर-उसी क्षण-तुम्हारे पास दौड़ा चला आऊँगा। तुमने मुझे मोल ले लिया।" व्यासजी! तुम जो इस वीणा को देख रहे हो, सो यह वही भगवान की दी हुई वीणा है। इसी को बजाता हुआ, हरिगुन गाता हुआ, मैं चौदहों भुवन में बिना रोक-टोक घूमता रहता हूँ। सभी मेरा आदर करते हैं, सभी को मैं प्रिय हूँ, मुझे इधर-की-उधर बात सुनाने में बड़ा आनन्द आता है। इसी वीणा के कारण कोई मुझे तुमड़िया कहता है, कोई कलह प्रिय कहकर पुकारता है। सुनकर हँस जाता हूँ और फिर हरि गुणगान में रत हो जाता हूँ।

छप्पय

ह्वै अतृप्त तन गिर्‌यो मोहि मूर्छा सी आई।
यह तनु दर्शन होय, दई नभ गिरा सुनाई।।
कृष्ण कीर्तन करत, कालकी करूँ प्रतीक्षा।
तनु तजि नारद भयो, भई भगवतकी इच्छा।।
वीणाकी झंकार सुनि, हरि हियमें प्रकटे तुरत।
दौड़ी आवे धेनु ज्यों, मोहनकी मुरली सुनत।।

(२४)

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्याऽनुवर्णनम्।।*

(श्री० भा० १ स्क० ६ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

करि नारद उपदेश व्यासतें बोले बानी।
कृष्ण कथा–सत्सङ्ग जनित निज कही कहानी।।
तुम हू संशय त्याग भक्त भगवत गुन गाओ।
कृष्ण कथाके कहत शान्ति सुख सागर न्हाओ।।
यों कहि लै वीणा चले, राम कृष्ण गुन गावते।
व्यास विचारे धन्य मुनि, ये सबके मन भावते।।

जिस बात में अपना अनुभव नहीं, उसके उपदेश का कोई प्रभाव नहीं। जिस पथ से हम गये नहीं, उसका सुना सुनाया वर्णन प्रामाणिक नहीं समझा

---

* जिन लोगों के हृदय को विषयों की वासनायें बार-बार व्याकुल बनाती रहती हैं, उनके लिये श्रीकृष्ण चरणाविन्द की कमनीय कथा ही अगाध सागर से पार करने वाली दृढ़ और सुनिश्चित नौक है। वे उसी के द्वारा विना प्रयास पार जा सकते हैं।

जाता। जिसने शब्द को ही रटा है, अर्थ को नहीं समझा, वह अर्थ जानने वाले की अपेक्षा कम आदरणीय माना जाता है। अनुभूत औषधि का पथ्यपूर्वक सेवन सर्वथा सुखदायक ही होता है। नारदजी ने व्यासजी के सम्मुख अपना अनुभव ही बताया। जिसका श्री व्यासजी के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा, जब नारदजी अपने जन्म का पूर्व चरित कहकर चुप हो गये, तब व्यासजी ने फिर जन्म का पूर्व चरित कहकर चुप हो गये, तब व्यासजी ने फिर पूछा—"ब्रह्मन्! आपने बड़ी ही सुखद कथा सुनाई। इसे सुनकर मैं इसी परिणाम पर पहुँचा कि जैसे श्री गङ्गाजी सदा-सर्वदा पापी प्राणियों के पापों को धोती रहती हैं, उसी प्रकार सत्-सङ्गति से सभी प्रकार के सन्ताप दूर होते हैं। यही नहीं सत्-सङ्गति रूपी सरिता को सर्वत्र प्राप्त हो सकती है। वह चलती फिरती नदी है। श्री गङ्गाजी भी चलती फिरती हैं। किन्तु उनकी चाल एक सीमा में आबद्ध है। उसी सीमा में उन्हीं के कमनीय कूल पर जाकर जो जलपान, स्नान आदि करेगा, उसी के पाप दूर होंगे। नाम लेने से भी कुछ दूर होते हैं, किन्तु सत्सङ्गति तो सर्वत्र सुलभ है। इस संसार को सन्त ही अपनी शक्ति से धारण किये हुए हैं। पृथ्वी और आकाश को ज्यो-का-त्यों स्थिर रखने में सन्त ही स्तम्भ हैं। आप जैसे सन्त इस धराधाम पर विचरण करके हम जैसे संशय ग्रस्त जीवों के संशयों का छेदन न करें, तो ये सभी प्राणी सदा संशय सागर में डूबते हुए तड़फते रहें। यह पृथ्वी फिर कर्मभूमि न होकर निरय भूमि बन जाय। अब कृपा करके आप मुझे मेरा कर्तव्य बतावें।"

व्यासजी की विनीत वाणी सुनकर नारदजी हँसते हुए बोले—"ब्रह्मन्! मैंने मायापति भगवान् की अचिन्त्य माया का प्रभाव भली-भाँति समझ लिया है। इससे मेरे ऊपर माया का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। मैं आनन्द से वीणा बजाते हुए विचरता हूँ। ये जो आदिभौतिक, आधिदैविक और आध्यत्मिक तीन प्रकार के ताप हैं, ये ही मनुष्य को सदा पीड़ा पहुँचाते रहते हैं। वे ही जीवों को दुःख देते हैं। इनके ही सन्ताप से सन्तापित हुआ। पुरुष सदा जलता रहता है। जब तक इन भीषण रोगों की सावधानी से, लगकर चिकित्सा न की जाय तब

तक ये रोग दूर नहीं हो सकते।"

व्यासजी ने पूछा—"महाभाग! इन तीनों रोगों के आप औषधि बतावें।"

नारदजी बोले—"व्यासजी! इन तीनों की अलग-अलग औषधि नहीं है। तीनों की एक ही अचूक अव्यर्थ औषधि है। उसका नाम है—'सर्व कर्म समर्पण'। इसका भली-भाँति सेवन करने से सभी प्रकार के सन्ताप निश्चय ही दूर हो सकते हैं।"

व्यासजी ने पूछा—"भगवान्! औषधि तो आपने बता दी, किन्तु बिना पथ्य के औषधि का उतना प्रभाव नहीं होता। अतः कृपा करके इस औषधि का पथ्य भी बतावें।"

नारदजी बोले—"पराशरनन्दन! आप पहिले रोग का कारण समझें। बात, पित्त और कफ ही तीन धातुयें जब विकार को प्राप्त होती हैं, तो ये ही दोष के नाम से पुकारी जाती हैं, जिन चीजों में इनके भाग अधिक रहते हैं उनसे ये धातुयें बढ़ती हैं। जैसे गेहूँ, घृत, दधि, शर्करा इनसे कफ की वृद्धि होती है। कड़वी, खट्टी, चरपरी चीजों से पित्त बढ़ता है। रूखी भारी चीजों से वायु का प्रकोप होता है। इसलिये आयुर्वेद शास्त्र का नियम है कि जिनका जिन चीजों से रोग उत्पन्न हुआ हो, उन वस्तुओं को वैद्य छुड़वा देते हैं। जैसे मीठे से रोग हुआ हो, तो उसमें मीठा वर्जित है। दधि से उत्पन्न रोग में दधि नहीं खाना चाहिये। कफ वृद्धि में जितने कफकारी पदार्थ हैं, उनका परित्याग कर देना चाहिये। अधिक अन्न खाने से अजीर्ण हो उस अजीर्ण में अन्न खाना विष के समान बताया है। उसमें लङ्घन ही पथ्य है। इसी प्रकार व्यास जी! इन सब दुःखों का, संसार बन्धन का, जन्म-मरण का, एकमात्र कारण है कर्म। कर्म कैसा भी करोगे उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। पाप कर्म करोगे, तो दुःख उठाना पड़ेगा। पुण्य कर्मों से सुख की प्राप्ति होगी, इतना होने पर भी पुण्य कर्मों से शाश्वत शान्ति-कभी क्षय न होने वाला सुख नहीं मिल सकता। जैसे, पाप कर्म बन्धन हैं, वैसे पुण्य कर्म भी बन्धन हैं। एक बन्धन मूँज की रस्सी

का है, दूसरा रेशम के लच्छों का है। बन्धन में अन्तर नहीं। आदमी बँधा दोनों से रहेगा। अन्तर इतना ही है कि एक अङ्गों में चुभेगा, दूसरा इतना चुभेगा नहीं। इसलिये इस संसार से सदा के लिये मुक्ति पाने की इच्छा रखने वालों को सभी प्रकार के कर्मो का परित्याग करना ही पड़ेगा।

व्यासजी ने कहा—"भगवन्! यह बात तो हमारी समझ में कुछ आई नहीं। प्रायः बहुत से रोग अन्न से ही होते हैं। यदि अन्न को बिलुकुल ही छोड़ दें तो फिर रोग नाश होगा या नहीं, इसका तो पता नहीं, शरीर का नाश तो अवश्य ही हो जायगा। इसी प्रकार बिना कर्म किये यह इन्द्रियों वाला प्राणी खाली कैसे बैठा रह सकता है?"

नारदजी ने बड़े हर्ष के साथ कहा—"हाँ व्यासजी! आपने बात पकड़ी। मेरे कहने का यथार्थ भाव यह है कि जिन चीजों से जो रोग उत्पन्न हुआ हो, उस रोग में उन-उन वस्तुओं की उसी रूप में खाना निषेध है, किन्तु यदि युक्ति के साथ खाया जाय, तो वे उल्टी औषधि बन जाती हैं। जैसे अजीर्ण है, भूख-सी भी है। गरिष्ठ अन्न से अर्जीण हुआ है तो पतली खिचड़ी बनाकर उसमें हींग, जीरे का छोंक देकर, पापड़ और नींबू तथा अदरक के अचार के साथ खाय, तो यह पथ्य भोजन अजीर्ण को पचाने में सहायता देगा। इसी प्रकार सब कर्मों को करते समय उन्हें भगवत सेवा समझें। प्रत्येक कार्य करके अन्त में यह कह दिया करे 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' यह कर्म श्रीकृष्ण को अर्पण है। 'अनेन कर्मणा श्रीकृष्णपरमात्मा प्रीयतां, इदं न मम।' इस कर्म के करने से श्रीकृष्ण भगवान् प्रसन्न हों, यह कर्म उन्हीं के निमित्त है। मैं इसका न कर्ता हूँ, न भोक्ता। तब वह कर्म निष्फल हो जायगा। उनको आपने समर्पण करके निर्जीव बना दिया, भून डाला। जैसे उर्वरा भूमि में पानी पाकर पड़ा हुआ बीज अवश्य ही उग आवेगा, किन्तु आप उस बीज को भूभर में भून डालें, तो फिर कितना भी पानी देते रहें, कितनी भी खाद डालें, वह कभी उगने का नहीं।

इसी प्रकार जो शास्त्र विहित कर्म भगवत् प्रीत्यर्थ किये जाते हैं, उनसे

संसार की पुनः उत्पत्ति न होकर भक्ति की-प्रभु प्रेम की उत्पत्ति होती है। जैसा बीज होगा वैसा ही पेड़ होगा। श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये किया गया कर्म श्रीकृष्ण को ही उत्पन्न करेगा। बबूर के बीज से आम कैसे उत्पन्न होगा?

आप पूछ सकते हैं, बिना आसक्ति के, बिना फल की इच्छा के कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती। यदि किसान को यह आशा न हो कि मेरे एक बीज के हजार हो जायँगे, तो वह खेत में बीज बोयेगा ही नहीं। सब कर्म किसी-न-किसी हेतु को आगे रखकर किये जाते हैं, निर्हेतुक कर्म की कल्पना करना भी असम्भव है। यह ठीक है, तो भी हमारे सब कर्म श्रीकृष्ण कृपा के ही हेतु से हों। जो करें, जो खायँ, जो पीवें, यज्ञ, हवन, दान, पुण्य, श्राद्ध, तर्पण, जप, तप, नियम, व्रत जो भी कुछ करें, उनका फल स्वयं न चाहकर उन्हें उन्हीं अच्युत को अर्पण कर दें। वे अच्युत तो बड़े कृतज्ञ हैं। मित्रों में भी परस्पर में यह होता है, कि कोई मित्र हमारे यहाँ उपहार भेजता है, तो कृतज्ञतावश हम चाहते हैं, इसके बदले में हम उसके पास इससे उत्तम वस्तु भेजें और यदि प्रेम से न भेजें, सौदा करके आदान-प्रदान करें, तो जितने की वस्तु दोगे उतने की ही बदले में दूसरी वस्तु पाओगे। उससे कम तो मिल सकती है, किन्तु अधिक नहीं। यह बात काम्य-कर्मों के सम्बन्ध में है। जिस कामना से तुम यज्ञ-यागादि करोगे, उससे उसी कामना की पूर्ति होगी। किन्तु कृष्णार्पण करने से कृपालु कृष्ण उसके बदले में अपनी सर्व प्रिय वस्तु 'भक्ति' को प्रदान कर देंगे। इसीलिये सब कर्म करते हुए, निरन्तर श्रीकृष्ण के नाम और गुणों की कीर्तन करते रहना चाहिये। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूह रूप से श्रीहरि का पूजन करें, नमस्कार करें। मन्त्र ही जिनकी मूर्ति है, ऐसे अव्यक्त अच्युत का सदा चिन्तन करता रहे, यह सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, यही परम पुरुषार्थ है, यही मुख्य कर्तव्य है।

आप प्रमाण के लिये मुझे ही देखें, केवल भगवत् भक्ति से ही-केवल वीणा के स्वरों के साथ उनके नाम गान करने से ही प्रभु मुझसे प्रसन्न हैं। मेरे

सभी मनोरथ पूर्ण करते हैं, मैं जब बुलाता हूँ, तुरन्त दौड़े चले आते हैं। सभी लोकों में मेरी अव्याहत गति है। सभी मेरा समान भाव से सम्मान करते हैं, आठों सिद्धियाँ नवों निधियाँ मेरे पैरों तले लोटती रहती हैं। मुझे न किसी की चिन्ता है, न कोई शोक। मस्त होकर हरि गुन गाता हूँ और स्वच्छन्द होकर विचरता रहता हूँ।

हे ज्ञानियों में शिरोमणि! महाप्राज्ञ व्यासजी! आप भी ऐसा ही करें। आप सब कुछ समझते हैं। सब जानते हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं, अब आप इन अन्य शास्त्रों में श्रम करने के कार्य को छोड़िये अब तो आप भगवान् की परम मधुर-मधुर लीलाओं को, जो हृदय को, मन को, कानों को समान रूप से सुखकारी हैं, जिन्हें ज्ञानी, मुक्त, नित्य, मुमुक्षु और यहाँ तक कि बद्ध विषयी प्राणी भी बड़े प्रेम से सुनते हैं, उन श्रीकृष्ण की शहद और मिश्री से मीठी, अमृत से भी अधिक गुणकारी, कमनीय कामिनी से भी अधिक चित्तहारी, योगी और मुनियों को भी प्यारी, कृष्ण की क्रीड़ओं और लीलाओं का प्रेम के सहित एकाग्र चित्त से वर्णन करें। उन्हीं के वर्णन करने से आपकी चिन्ता दूर होगी। आपका ही नहीं समस्त जगत् का कल्याण होगा।

यह मैंने आपसे अपने जन्म की कथा और उसका सारभूत तात्पर्य आपके सामने वर्णन किया। लो, अब हमारी तुम्हारी राम-राम अब मैं जा रहा हूँ। इतना कहकर बिना व्यासजी के उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए ही, वीणा के स्वरों पर तान छोड़ते हुए, सुन्दर कण्ठ से राम कृष्ण का कीर्तन करते हुए नारदजी यह गये वह गये और क्षण में ही अदृश्य हो गये।

उनकी मस्ती, उनका भगवत् प्रेम, उनकी अलौकिक भक्ति को देखकर व्यासजी मन-ही-मन कहने लगे—वाह-वाह! ये मुनि ही धन्य हैं। इनका वैराग्य, ज्ञान, भगवत प्रेम सराहनीय है यदि जीवन हो तो ऐसा ही हो।

छप्पय

धनि नारद मुनि धन्य-धन्य वर बीना इनिकी।
हरि यश गावें नित्य सुरसना धनि-धनि तिनिकी।।
सब जग दुख संतप्त, फिरें जे हरि गुन गावत।
दुखको मेटत मूल शान्तिको पाठ पढ़ावत।।
धनि अवनी निज चरणकी, पद पराग परसत विमल।
द्वै ई दूरि करें दूरित, संत-संग सुरसिर सलिल।।

श्रीशुक के भागवत पढ़ने का कारण

(२५)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थभूतगुणो हरिः।।*

(श्री० भा० १ स्क० ७ अ० १० श्लोक)

छप्पय

नारदजी जब गये ब्यास बैठे वर आसन।
चित्त वृत्तिकूँ रोकि कियो इन्द्रिनिपै शासन।।
माया सहित महेश हृदयमें दिये दिखाई।
भव भय भञ्जनि भक्ति प्रकट ह्वै सम्मुख आई।।
मनमें मोद महा भयो, भव्य भागवत रचिलई।
निज सुत शुककूँ स्वर सहित, सबरी कण्ठ करा दई।।

---

* जो सदा आत्माराम में मग्न रहने वाले मुनि हैं, जिनके सब संशय नाश हो गये हैं, संशय न रहने से जिन्होंने ग्रन्थों का अध्ययनादि भी छोड़ दिया है, वे भी भगवान् वासुदेव में अहैतुकी भक्ति किया करते हैं। क्यों करते हैं जी? उन्हें क्या आवश्यकता है? आवश्यकता क्या है, भगवान् के गुणों में ऐसा सौन्दर्य माधुर्य है, कि वे इच्छा न रहने पर भा, हठात् उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं।

सच्चा श्रोता वही है, जो कथा के मूल को न भूले। बीज का कितना भी विस्तार हो जाय, स्कन्ध में से शाखा-प्रशाखायें फूट जायँ, किन्तु दृष्टि वहीं रहे, जहाँ से इसका इतना विस्तार हुआ है। जो विस्तार के कारण मूल को विसार देते हैं, वे उसके गूढ़ तत्व को समझने में असमर्थ होते हैं। शौनकजी तो सच्चे श्रोता हैं। वे अपने प्रश्न को भूले नहीं। उन्होंने तीन प्रश्न किये थे (१) यह भागवत संहिता व्यासजी ने कितनी प्रेरणा से कहाँ बनाई? (२) परम वैराग्यवान् जगत् से सदा उदासीन रहने वाले श्रीशुकदेवजी ने इस इतने बड़े ग्रन्थ को क्यों पढ़ा? और (३) राजा परीक्षित् ने परोपकाररत अपने शरीर को स्वेच्छा से युवावस्था में ही क्यों छोड़ दिया, उन्होंने उपवास क्यों किया और श्रीशुक ने उन्हें कथा कहाँ पर क्यों सुनाई?

सूतजी ने यह तो बता दिया कि उन्होंने श्रीनारदजी की प्रेरणा से, उन्हीं की आज्ञा से इस परम पावन शाश्वत संहिता के निर्माण का सङ्कल्प किया। इसे सुनकर शौनकादि मुनियों की जिज्ञासा और भी बढ़ी। वे सूतजी से पूछने लगे—"महाभाग सूतजी! आप बड़ी ही सरस कथा सुनाते हैं। आपकी कथा कहने की शैली सुन्दर और उत्सुकता उत्पन्न करने वाली है। आप कथा कहते-कहते बीच-बीच में माधुर्य का पुट लगाते जाते हैं, जिससे श्रोता ऊबता नहीं, उसे अधिकाधिक आनन्द ही आता जाता है। अब आप कृपा करके यह सुनाइये कि नारदजी के चले जाने के अनन्तर वे साक्षात् विभु-श्रीविष्णु के अवतार श्रीव्यासजी—क्या करते भये? उन्होंने कैसे इस भक्ति रस पूर्ण महान् ग्रन्थ को बनाया? महात्यागी विरागी श्रीशुक ने इसे क्यों पढ़ा?"

ऋषियों के प्रश्न को सुनकर सूतजी कुछ देर तक ध्यान मग्न रहे। पुनः शनैः-शनैः कहने लगे—"ऋषियों! आपकी उत्सुकता ने मेरे उत्साह को अधिकाधिक बढ़ाया है। आप यदि इस प्रकार उत्सुकता प्रकट न करें, तो मैं कथा कह ही नहीं सकता। कथा-वाचक में स्वयं तब तक कहने की शक्ति नहीं आती जब तक कि श्रोता उसे उत्साह प्रदान न करें। कथा में प्रधानता

वक्ता की नहीं होती, श्रोता की ही होती है। यज्ञ में यजमान ही उत्सव का मूल कारण है। आचार्य, ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु आदि तो उसी में बनाने से बनते हैं। पूजा में प्रधानता देवता की न होकर पुजारी की ही है, क्योंकि उसी के आवाहन से तो देवता आते हैं। उसी की पूजा से पूजित और सन्तुष्ट होकर तो वरदान देने को विवश हो जाते हैं। आपका प्रेम अकथनीय है। आप अपने आप ही मेरे हृदय में प्रेरणा करके कथा कहला रहे हैं हाँ तो अब मैं आगे की कथा कहता हूँ। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

नारदजी चले गये। व्यासजी सोचने लगे—अब क्या करना चाहिये। ब्रह्म नदी भगवती सरस्वती के पश्चिम तट पर जो केलों के वृक्षों से सुशोभित, उनका शम्याप्रास नाम का आश्रम था, उसी में बैठकर अपने मन को एकाग्र करने लगे। क्योंकि बिना मन के एकाग्र किये, किसी भी विषय का बोध नहीं होता। आपकी आँखें भले ही खुली हुई क्यों न हो, जब तक मन का उनके साथ संयोग न होगा, वे रूप देखने में समर्थ न होंगी। आँखे स्वयं रूप को नहीं देख सकतीं। मन के ही वे खोलने के द्वार है। मन-ही-मन से झाँकर देखता है। सभी इन्द्रियाँ दास-दासी हैं। मन सबका स्वामी है। दास-दासियों की स्वयं कोई पृथक् सत्ता नहीं। वे तो स्वामी की आज्ञा का पालन करने वाले होते हैं।

व्यासजी पहले स्वस्थ होकर-सुन्दर बाल वाले पहाड़ी मृग चर्म के ऊपर ऊनी वस्त्र बिछाकर-सुखासन से बैठे। उन्होंने सरस्वती के पवित्र जल से विधिवत् तीन आचमन किये। आचमन करके और चित्त की इधर-उधर बिखरी हुई वृत्तियों को समेटकर, भक्ति-योग के द्वारा अपने मन को भगवान् में लगाया। ध्यान में उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार किया। इस समय उन्हें लीलाधारी भगवान् की आवश्यकता थी, वे मायापति प्रभु के चारु-चरितों का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते थे। अतः उन्होंने समाधि में पुराण पुरुष परमेश्वर के साथ उनकी अचिन्त्य माया का भी साक्षात्कार किया जिसका फैलाया हुआ यह सब पसारा है। हम इस माया के पसारे को देखते हैं, किन्तु इसकी भीतर छिपे मायापति से अनभिज्ञ ही रहते हैं। वे सदा हमारी आँखों से ओझल बने

रहते हैं। लज्जावती नवबधू के समान वे सदा अपने चन्द्रमुख को माया के घूँघट से ढके रहते हैं। अत्यन्त निकटतम सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति के सम्मुख ही वे अपना परदा हटाते हैं। जीवों को इस बहुरूपिणी माया ने ही ठग लिया है, इसके चक्कर में पड़कर सर्व समर्थ विभु इसके गुणों से हीन होता हुआ भी, अपने को उसी के, तीनों गुणों के अधीन मान बैठा है। कैसी विडम्बना है, कैसा मोहक इसका रूप है? जीव अपनी सत्ता को भूलकर इसी के सम्मुख आत्म समर्पण करके अपने को दीन, दुखी, पराधीन मानकर सदा इधर-से-उधर भटकता रहता है। जब बिना बात अपने को फँसा हुआ मानता है, जब अकर्ता होकर भी अपने को कर्ता मान बैठता है, तब तो उसके दुःखों का भी भागी बनना ही पड़ेगा। वास्तव में यह भ्रम है। धातुओं में दोष न होते हुए भी मानसिक रोग है। जब तक इसकी चिकित्सा न की जायगी, तब तक यह रोग जाने का नहीं। इसलिये इस भ्रम-रोग को मिटाने वाली एक औषधि है, भगवत् भक्ति। तुम माया को छोड़कर मायापति की शरण ले लो। चोर को न मारकर चोर की माता को मार दो कि चोर फिर पैदा हो ही नहीं। सेवक की शरण न जाकर स्वामी की शरण में जाओ। स्वामी से स्नेह हो गया, तो सेवक तो स्वतः ही अपना आज्ञाकारी बन जायगा। यह रहस्य की बात है। जिन्होंने इस रहस्य को समझ लिया है, वे माया के मोह को छोड़कर मनमोहन से मोह करते हैं। फिर माया तो मनमोहन की दासी है। वह फिर अपनी चटक-मटक नहीं दिखती, फिर लजाती हुई भाग जाती है। जो इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं उन्हें ही समझाने के लिये, उन्हीं के कल्याण को लक्ष्य करके भगवान् व्यास ने इस भागवती वार्ता का प्राकट्य किया। इसे जिसने जान लिया और सुनकर हृदय पटल पर अङ्कित कर लिया, वह माया के पर्दे को फाड़कर परमानन्द के समीप पहुँच गया। फिर उसे शोक मोह नहीं होता। जरा-मरण के चक्कर में भी वह नहीं फँसता। फिर तो वह भक्ति रूपी आनन्द के सागर में पड़ा-पड़ा अमृत पान करता रहता है और परम सुख का सदा अनुभव करता रहता है। इन्हीं सब बातों को सोच-समझकर, व्यासजी ने इस महान् ग्रन्थ की रचना की।

बनाने के पश्चात् फिर इसका संशोधन निरीक्षण भी किया। तब इसे श्रीशुक को पढ़ाया।

अब आपका प्रश्न है कि शुकदेव तो परम ज्ञानी थे, महान् विरक्त थे, लँगोटी भी नहीं लगाते थे, दिगम्बर ही फिरते रहते थे आश्रम पर नहीं आते थे, बनों में सदा उन्मत्त पागलों की भाँति ही घूमते रहते थे, भूख लगने पर महाभाग्यशाली गृहस्थियों के घर से भिक्षा ले आते थे। ऐसे विरक्त परमहंस ने इस इतनी बड़ी पोथी को पढ़ा कैसे? सो शौनकजी! इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं। न शुक का दोष, न उनके ज्ञान वैराग्य की कमी। यह सब तो इस ग्रन्थ की सरसता का ही दोष है। इसमें कोई ऐसा मधुर, मादक, चित्त को स्वतः ही खींचने वाला अद्वितीय रस भरा है कि कैसा भी विरक्त क्यों न हो, उसका मन खिंच ही जाता है। आप सब कुछ त्याग सकते हैं, सबसे दूर भाग सकते हैं, किन्तु जहाँ कान के द्वारा हृदय में यह रस पहुँचा कि हृदय फिर खील-खील होकर बिखर जाता है। चिकनी मिट्टी की तरह पानी पड़ते ही आर्द्र हो जाता है। जैसे चुम्बक लोहे को खींच लेता है, वैसे ही इसकी सरसता हृदय को खींच लेती है। श्रीशुक भी ऐसे ही फँस गये। व्यासजी ने श्रीकृष्ण गुणों वाला जाल बनाकर, रुप माधुरी वाली बंशी बजाकर, इन्हें जङ्गलों में फँसा लिया, फिर नित्य मधुर श्लोक रूपी आहार देकर, इन्हें परिपुष्ट बना दिया। जब ये उस अद्‌भुत आहार को पाकर परिपुष्ट और सबल बन गये, तब इन्हें स्वतन्त्र करके छोड़ दिया। फिर ये अपनी मनोहर मूर्ति से संसार को सुखी बनाते हुए स्वच्छन्द गति से घूमने लगे।

शौनकजी ने पूछा—"महाभाग! व्यासजी ने ज्ञानी शुक को कैसे फँसाया? इस कथा को आप हमें विस्तार के साथ सुनाइये। इतने से हमारी तृप्ति नहीं हुई।"

ऋषियों की इस बात को सुनकर सूतजी कहने लगे—"मुनियों! पैदा होते ही मेरे गुरुदेव भगवान श्रीशुक इन संसारी सभी सम्बन्धों को बन्धन

मानकर वन के लिये भाग गये। उन्होंने अपने पिता की भी बात नहीं मानी। पिता समझते थे, मेरा पुत्र महान् ज्ञानी है। इसे मोह ममता से मैं अपने पास नहीं बुला सकता। यह यदि वश में आ सकता है, तो श्रीकृष्ण रसायन के लोभ में ही आ सकता है। हरि गुणगान सुनकर ही इसका हृदय द्रवीभूत हो सकता है। इसलिये श्रीमद्भागवत की रचना करके उसके अति मधुर श्लोक उन्होंने अपने छात्रों को ताल स्वर सहित पढ़ा दिये। जब वे सस्वर उन्हें सीख गये, तब उन्हें आज्ञा दी—तुम वन में फल, मूल, कुशा, समिधा लेने जब जाया करो, तब ही उन्हें स्वर सहित गाया करो। शिष्यों ने ऐसा ही किया। यही श्रीकृष्ण गुन रूपी डोरी से बुना हुआ, शुक रूपी मृगशावक को फँसाने वाला, प्रेम रूपी जाल था। एक दिन शुक इसमें फँस गये। उनके कानों में भगवान की रूप माधुरी और दयालुता के गुणों वाला एक श्लोक सुनाई दिया। उसे सुनते ही वे पिता के पास दौड़े आये और उसे सिखाने के लिये आग्रह करने लगे। अपने कार्य की सफलता पर सत्यवतीनन्दन हँसे और अपने सरल सुत से स्नेह सहित बोले—"बेटा! एक नहीं १८ हजार श्लोक मैंने ऐसे ही बनाये हैं और तुम्हीं उसके अधिकारी हो। तुमसे उत्तम पात्र इस संसार में दूसरा है ही नहीं। इसे पढ़ो, समझो, गाओ, स्वयं सुखी होओ और संसार को इसका सन्देश सुनाकर सुखी बनाओ। बेटा, तुम्हारा कल्याण हो, आज मेरा श्रम सफल हुआ। आज मेरी साधना पूरी हुई। आज मैं कृतकृत्य हुआ। आज नारदजी की आज्ञा का यथोचित पालन हुआ। आओ बेटा, पढ़ो, इतना कहकर उन्होंने सभी भागवत श्रीशुकजी को पढ़ा दी। उसे पढ़कर ही उन्होंने गङ्गा किनारे राजा परीक्षित् को सुनाई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने श्रीशुक का वृत्तान्त सुनाया, अब आप और जो पूछना चाहते हों, वह मुझसे पूछें उसे मैं आपके सामने कहूँगा।"

छप्पय

बोले शौनक–सूत! सुनाओ शुककी शिक्षा।
वैरागी बनि फिरें करें घर-घरतें भिक्षा।।
कैसे आके पढ़ी संहिता सात्वत सबरी।
कैसे वांची कथा, मिटाओ शङ्का हमरी।।
बोले सूत–सुने सरस, अति मधुमय भगवत चरित।
फँसे प्रेमके फन्दमें, ज्यों मृग बीना स्वर सुनत।।

परीक्षित् के पूर्वज

(२६)

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम्।
संस्थां च पांडुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्।।*

(श्री० भा० १ स्क० ७ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

भरत वंशमें भूप, भये शन्तनु सुखदाता।
विदुर, पांडु, धुतराष्ट्र, पौत्र तिनके विख्याता।।
पाण्डव पाँचों पांडु तनय धृतराष्ट्र पुत्र शत।
पाण्डव परम प्रसिद्ध, किन्तु कौरव अति निन्दित।।
राज्य हेतु भारत भयो, पाण्डु-पुत्र विजयी भये।
भीम सुयोधन, जाँघकूँ, तोरि छोरि निज घर गये।।

---

* सूतजी शौनकादि ऋषियों से कहते हैं--"मुनियों! अब मैं आपके सम्मुख राजर्षि परीक्षित् के जन्म, कर्म और मोक्ष की कथा को कहता हूँ। साथ ही पाण्डवों के महाप्रस्थान की कथा भी कहूँगा।

आप पूछेंगे कि इन लड़ाई झगड़े की बातों को क्यों करते हैं? सो मुनियों! इन्हीं के आश्रय से तो श्रीकृष्ण ने अनेकों कमनीय क्रीड़ायें की हैं। इनमें श्रीकृष्ण-कथाओं का उद्गम है।"

ऋषियों के दो प्रश्नों का जब सूतजी ने उत्तर दे दिया, तो अब शौनकजी सूतजी से महाराज परीक्षित् के जन्म के सम्बन्ध का तीसरा परम पावन प्रश्न पूछते हैं, जिसमें श्रीकृष्ण की महान् भक्तवत्सलता का वर्णन है। ऋषियों की ओर से शौनक ने पूछा—"महाभाग, सूतजी! आपने हमें व्यास नारद सम्वाद सुनाया। श्रीशुक ने किस प्रकार भागवती संहिता को पढ़ा, यह बात भी बताई। अब हम आपसे महाराज राजर्षि परीक्षित् के जन्म की कथा सुनना चाहते हैं। इन महाराज का जन्म किस वंश में हुआ? श्रीकृष्ण की इनके ऊपर इतनी कृपा क्यों हुई? इन्हें ब्राह्मण का शाप क्यों हुआ? ये गङ्गा किनारे आकर अन्न जल त्यागकर क्यों बैठे? श्रीशुक मुनि से इनकी भेंट कहाँ और कैसे हो गई? श्रीशुक ने इन्हें कौन-सी कथा कितने दिन में सुनाई? किस प्रकार इन राजर्षि की मुक्ति हुई? इन कथाओं को सुनाइये, यदि इनकी गणना भागवती कथाओं में होती हो तो। यदि इनमें श्रीकृष्ण कथा का सम्पुट हो तभी ये श्रवणीय है। हम तो कृष्ण कथा रूपी रस के रसिक हैं।"

ऋषियों के प्रश्न को सुनकर सूतजी बोले—"परम आदरणीय मुनियों! आपके प्रश्न श्रीकृष्ण कथाश्रित ही हैं। इन सब कथाओं की गणना भागवती कथाओं में ही की जाती है, क्योंकि आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही इन सब कथाओं में ओतप्रोत है। जैसे सूत्र के बिना माला का अस्तित्व नहीं, वैसे ही श्रीकृष्ण के बिना इन कथाओं का कोई मूल्य नहीं, अब मैं राजर्षि परीक्षित् के जन्म की कथा, उनके लोक प्रसिद्ध कर्मों की कथा कहता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

चन्द्रवंश में दुष्यन्त के वीर्य से और तापस-कन्या शकुन्तला के गर्भ से महान् प्रतापशाली महाराज भरत का जन्म हुआ। ऋषियों! इस समय आप अपनी उत्सुकता को रोकें। मैं इन सब चन्द्रवंशी, सूर्यवंशी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं के चरित्र को प्रसङ्गानुसार आगे कहूँगा। इस समय तो केवल महाराज परीक्षित् के पूर्वज होने के नाते, इनका नामोल्लेख मात्र ही करता हूँ।

हाँ, तो ये महाराज बड़े प्रतापशाली हुए। गङ्गा-यमुना के मध्य में इन्होंने सैकड़ों बड़े-बड़े अश्वमेध प्रभृति यज्ञ किये। दशों दिशाओं में इनका प्रबल पराक्रम प्रसिद्ध था। इन्हीं के नाम से इनका वंश भरतवंश कहलाया। इसी भरत वंश में एक महाराज हस्ती हुए, जिन्होंने हस्तिनापुर नगर को गङ्गा के दक्षिण तट पर बसाया। इसी हस्तिनापुर में भरत वंश के महाराज प्रतीप हुए। वे राजर्षि इतने सुन्दर थे कि स्वयं भगवती गङ्गा ने साकार स्वरूप धारण करके, इनसे पाणिग्रहण की याचना की। महाराज ने श्रीगङ्गाजी को अपने शन्तनु की पत्नी बनाना स्वीकार किया। भगवती भागीरथी ने इस प्रतिज्ञा के सहित शन्तनु की पत्नी बनना स्वीकार किया कि 'वे मेरे किसी कार्य में हस्तक्षेप न करें। जिस दिन वे मेरे कार्य में हस्तक्षेप् करेंगे। उसी समय मैं अन्तर्धान हो जाऊँगी।' महाराज शन्तनु ने इसे स्वीकार किया और गङ्गाजी के साथ उनका विवाह हो गया। कुछ शाप से शापित हुए देवता गङ्गाजी के गर्भ से उत्पन्न हुए। गङ्गाजी उन्हें उत्पन्न होते ही अपने जल में फेंक देती और वे शाप मुक्त होकर स्वर्ग चले जाते। महाराज शन्तनु को इससे बड़ा क्लेश होता। वे दैव के रहस्य को तो समझते नहीं थे। इस प्रकार गङ्गाजी ने सात पुत्रों को फेंक दिया। आठवाँ पुत्र जब हुआ तो राजा को बड़ा दु:ख हुआ और वे बोले—"देवि! तुम कौन हो, जो ऐसा नृशंस और क्रूर कार्य करती हो? मेरे वंश को नष्ट ही कर दोगी क्या?"

बस, इतना कहना था कि गङ्गाजी हँसी और मन-ही-मन सोचने लगीं—"इसी के जन्म के लिये तो मैं आई। मेरा कार्य समाप्त हो गया। वे राजा से बोलीं—"राजन्! हमारी आपकी प्रतिज्ञा भङ्ग हुई, मैं चली।" इतना कहकर गङ्गाजी वहीं अन्तर्धान हो गई और अपने जल रूप में विलीन हो गईं।

उन गङ्गा के पुत्र गांगेय का नाम देवब्रत हुआ। वे बड़े पराक्रमी शूरवीर और सर्वगुण सम्पन्न थे। एक दिन महाराज शन्तनु मृगया के निमित्त गङ्गा किनारे गये। वहाँ उन्होंने अपनी आभा से दशों दिशाओं को आलोकित करने वाली परम रूपवती, दाशराज की कन्या, सत्यवती को देखा। उसका रूप लावण्य संसार में अप्रतिम था। उसके अङ्ग से दिव्य गन्ध निकल रही थी।

राजा उसके रूप पर मोहित हुए और उन्होंने उसके पिता से अपने लिये उसकी याचना की। निषादराज इस प्रस्ताव को सुनकर परम प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"राजन्! यह भी एक राजर्षि के वीर्य से उत्पन्न एक कुलीन बालिका है। मैं तो इसका पोषक पिता हूँ। इसका विवाह तो मुझे करना ही है और आपसे योग्य वर संसार में मिलेगा कहाँ? किन्तु मैं चाहता यह हूँ, कि इसके गर्भ से जो बालक हो, वही आपके राज्य का उत्तराधिकारी बनें।"

राजा उदास हुए। वे अपने सर्वगुण सम्पन्न, आज्ञाकारी, युवा पुत्र, गांगेय को जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ होने से राज्य के सर्वथा अधिकारी थे, उन्हें छोड़कर दूसरी छोटी पत्नी के पुत्र को राज्याधिकारी कैसे बना सकते थे? वे निराश होकर लौट आये। मन्त्रियों से अपने पिता की इच्छा समझकर, गांगेय गङ्गातट पर निषादराज के समीप गये। उन्होंने जाकर उससे कहा—"तुम जैसे कहते हो वैसा होगा। मेरे पिता के साथ इन देवी का विवाह कर दो।"

देवव्रत के पराक्रम से भयभीत, किन्तु लोभी निषाद बोला—"आप तो धर्मात्मा हैं। आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे ही, किन्तु आपके पुत्रों ने मेरी पुत्री के पुत्रों से राज्य छीन लिया तब क्या होगा?"

अपने पिता की प्रसन्नता के लिये देवव्रत ने भीष्म प्रतिज्ञा की—"अच्छी बात है, मैं विवाह ही न करूँगा, जिससे तुम्हें कोई शङ्का ही न हो।" उनकी इस भीषण प्रतिज्ञा पर स्वर्गीय देवताओं ने पुष्प वृष्टि की। शन्तनु का सत्यवती के साथ विवाह हो गया। उसके गर्भ से चित्राङ्गद तथा विचित्रवीर्य दो पुत्र हुए। चित्राङ्गद अविवाहित ही चित्राङ्गद नामक गन्धर्व के हाथ से मारे गये। विचित्रवीर्य का विवाह काशीराज की अम्बा तथा अम्बालिका नामक दो पुत्रियों के साथ हो गया। उनमें अधिक आशक्त रहने के कारण, वे भी अल्प आयु में ही राजरोग से पीड़ित होकर निःसन्तान ही चल बसे। भरतवंश का मूलाच्छेदन न हो, अतः सत्यवती ने अपने कुलीन पुत्र भगवान व्यास को बुलाकर, उनकी पत्नियों में-आपद् धर्म से-सन्तान उत्पन्न करवाई। बड़ी रानी के एक अन्धा पुत्र हुआ, जिसका नाम धृतराष्ट्र हुआ। जन्मान्ध होने से-बड़े होने

पर भी-वे राज्य के अधिकारी न समझे गये। छोटी से परम प्रतापी महाराज पाण्डु हुए। दासी से परम नीतिज्ञ विदुर जी का जन्म हुआ। पाण्डु का विवाह कुन्ती और माद्री के साथ हुआ। एक मृगरूपी ऋषि के शाप से महाराज पाण्डु सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हुए। त्रिकालज्ञ ऋषि दुर्वासा ने यही समझकर और कुन्ती के गुणों से सन्तुष्ट होकर उन्हें देवताओं को बुलाने की विद्या प्रदान की। वंश की रक्षा के लिये अपने पति की आज्ञा पाकर कुन्ती ने धर्म, वायु और इन्द्र से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—ये तीन पुत्र उत्पन्न कराये तथा माद्री ने अश्वनीकुमारों के द्वारा नकुल और सहदेव का जन्म हुआ। धृतराष्ट्र का विवाह गन्धार देश के राजा की पुत्री गान्धारी के साथ हुआ, जिससे व्यासदेव की कृपा से सौ पुत्र हुए, जो कौरव कहलाये।

भरतवंश की गद्दी पर पाण्डु ही बैठै। उन्हें न्यायतः राजसिंहासन मिला, किन्तु वे बड़े मृगया प्रेमी थे। अतः राज्य का भार अपने बड़े अन्धे भाई धृतराष्ट्र को सौंपकर वे गन्धमादन पर्वत पर (पाण्डुकेश्वर के समीप) लोकपाल के

वनों में विहार करते हुए वहीं रहने लगे। वहीं वन में पाँचों पाण्डवों का जन्म हुआ। वहीं महाराज पाण्डु स्वर्गगामी हुए। तब तक पाण्डवों का पैतृक राज्य कौरवों के अधिकार में आ चुका था। पाण्डव अभी तक अनाथ बच्चे थे। धृतराष्ट्र ने उनका पुत्रवत पालन तो किया, किन्तु उनकी अधिक ममता अपने पुत्रों पर ही थी। दुर्योधन स्वभाव से ही क्रूर था। नियमानुसार अन्धे का पुत्र होने और अवस्था में भी युधिष्ठिर से छोटा होने से वह राज्य का अधिकारी नहीं था। किन्तु पिता के अन्धे होने के कारण, राज्य पर उसी ने अधिकार जमा रखा था। पाण्डवों से वह आरम्भ से ही द्वेष रखता था और उन्हें मार डालने के भाँति-भाँति के प्रयत्न करता रहता था, किन्तु पाण्डवों के रक्षक तो श्रीकृष्ण थे।

राजा शन्तनु एक बार मृगया को गये, तो इन्हें सरकण्डे के वन में एक लड़का, एक लड़की—ये दो सद्य:जात बालक पड़े मिले। चिह्नों से ब्राह्मण वंश के ये हैं, और समझकर कृपावश वे उन्हें उठा लाये। बच्चे का नाम कृप और बच्ची का नाम कृपी रखा। ये ही कृप आगे चलके पाण्डवों के आचार्य कृपाचार्य हुए। बच्ची कृपी का विवाह गौतम पुत्र, धनुर्विद्या विशारद, श्रीद्रोणाचार्य से हुआ, जिसके गर्भ से अश्वस्थामा नाम का एक परम पराक्रमी, शूरवीर पुत्र हुआ। भाग्यवश दारिद्रय के दु:ख से दुखी होकर तथा अपने बालसखा द्रुपद से अपमानित होकर द्रोणाचार्य हस्तिनापुर आ गये और कौरव पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखाने लगे।

दुर्योधन की इच्छा पाण्डवों को राज्य देने की नहीं थी। वह उन्हें मार डालना चाहता था। इससे उन्हें वारणावत में भेजकर लाख का घर बनवाकर, जला डालने का उसने प्रयत्न किया। विदुर की बुद्धिमानी से पाण्डव कुन्ती सहित निकल भागे और भिक्षा पर निर्वाह करते हुए जङ्गलों में भटकते रहे। उसी समय द्रौपदी के साथ पाँचों पाण्डवों का विवाह हुआ। सबके समझाने पर धृतराष्ट्र ने आधा राज्य पाण्डवों को दे दिया और वे इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाकर रहने लगे। प्रसङ्गवश अर्जुन द्वारका गये। वहाँ उनका विवाह

श्रीकृष्ण भगवान की बहिन सुभद्रा के साथ हुआ। उसी के गर्भ से अभिमन्यु का जन्म हुआ। दुर्योधन के षडयन्त्र से शकुनी आदि धूर्त जुआड़ियों के साथ धर्मराज युधिष्ठिर का जुआ हुआ। छल से कौरवों ने इनका सर्वस्व जीतकर उन्हें चौदह वर्ष के लिये बनवास दे दिया और एक वर्ष का अज्ञातवास। पाण्डवों ने बारह वर्ष वनों में बिताकर, आज्ञातवास का समय राजा विराट् के यहाँ बिताया। वहीं पर महाराज की लड़की उत्तरा के गर्भ से अभिमन्यु सुत महाराज परीक्षित का जन्म हुआ। जब ये गर्भ में ही थे, तभी अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र छोड़कर इन्हें माता के पेट ही मार डालना चाहा था, किन्तु श्रीकृष्ण ने माता के गर्भ में घुसकर इनकी रक्षा की गर्भ में ही इन्हें भगवान् के दर्शन हुए और ये बार-बार उन्हें देखकर परीक्षा करने लगे कि ये कौन हैं इसी से इनका नाम परीक्षित हुआ।

इस कथा को सुनकर शौनकादि ऋषियों ने पूछा—"सूतजी! अश्वत्थामा तो ब्राह्मण थे, धर्मात्मा थे उन्होंने गर्भ-हत्या जैसा क्रूर कार्य क्यों किया? और फिर ब्रह्मास्त्र से दग्ध हुए बालक को भी भगवान् ने गर्भ में ही कैसे बचाया? इस वृतान्तको आप विस्तार से कहें। यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है तब तो महाराज परीक्षित् बड़े ही भगवत् कृपा पात्र हैं जिन्हें गर्भ में ही भगवत साक्षात्कार हुआ। स्वयं श्रीकृष्ण ने गर्भ में घुसकर उनकी रक्षा की। यह तो परीक्षित् कथा न होकर श्रीकृष्ण-कृपा कथा ही कही जा सकती है।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! भाग्य सब करा लेता है। जिस समय जैसा कार्य होना है, उस समय वैसी बुद्धि बन जाती है। जब अज्ञात वास की प्रतिज्ञा पूरी करने पर भी पापी दुर्योधन ने पाण्डवों का पैतृक राज्य उन्हें नहीं लौटाया तो दोनों में बड़ा घोर युद्ध हुआ। कौरवों की सेना अधिक थी, उनके पास समर सम्बन्धी सामान भी विपुल मात्रा में था, उनकी ओर बली पराक्रमी शूर-वीर भी अधिक थे। पाण्डवों की ओर सेना भी कम थी, सामान भी सामान्य ही था। भीष्म, द्रोण, कर्ण के समान पराक्रमी वीर भी नहीं थे, किन्तु एक ही बात

उनकी ओर अधिक थी, जिससे पाण्डवों की विजय हुई। उनके मन्त्री, सेवक, सारथी, स्वामी और सर्वस्व श्रीकृष्ण स्वयं ही थे। 'जाके रथ पर केशो, ताको कौन अन्देशो।'

कौरवों के त्रैलोक्य विजयी भीष्म, द्रोण, कर्ण और कृप—ये सभी सेनापति क्रमशः एक के पश्चात् एक मारे गये। उनकी सम्पूर्ण सेना भी नष्ट हो गई। सेना और सेनापतियों के मारे जाने पर दुर्योधन रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ और अपनी मन्त्र शक्ति से जल को स्तम्भित करके, एक बड़े तालाब में जाकर छिप गया।

जब पाण्डवों ने देखा कि जिसके पीछे इतना युद्ध हुआ, वह अभी तक जीवित ही है, जिस काँटे के कारण सम्पूर्ण पैर सूज गया, वह काँटा अभी शरीर से बाहर नहीं हुआ। तो वे दुर्योधन को खोजने चले। दूत और चारों की सहायता से यह निश्चय हो गया कि दुर्योधन इसी सरोवर में छिपा है। तब तो पाण्डव उसे अनेक कठोर-कठोर बातें कहकर युद्ध के लिये ललकारने लगे।

अपने को परम शूर-वीर योद्धा समझने वाला अधर्मी अभिमानी दुर्योधन, ये सब बातें सुनकर सरोवर से बाहर निकला। पाण्डवों ने उसे द्वन्द युद्ध के लिये ललकारा। उसने भीम के साथ गदा युद्ध करना स्वीकार किया। दोनों ही क्रोध में भरकर एक दूसरे को जीतने की इच्छा से अपनी-अपनी गदा लेकर रणाङ्गण में उतर आये। दोनों का यह रोमाञ्चकारी परम भीषण युद्ध था। दोनों ही बली थे। दोनों ही एक दूसरे को नष्ट करने पर उतारू थे।

उस युद्ध को देखने को आकाश मण्डल में देवताओं के असंख्यों विमान खड़े थे। दोनों में ही हजार-हजार हाथियों का बल था। दोनों ही बलदेवजी के शिष्य थे। वे परस्पर में दो मतवाले हाथियों के समान भिड़ गये। उन्मत्त दो साँड़ जैसे अपने सींगों से लड़ते हैं, वैसे ही वे दोनों गदाओं से एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। दो सिंह जैसे युद्ध में उछलकर परस्पर प्रहार करते हैं, वैसे ही दोनों लड़े, दोनों का बल समान था, बल में भीम चाहे अधिक भले ही हों

किन्तु युद्ध कौशल में दुर्योधन बढ़ चढ़कर था। उसने बलदेवजी की श्रद्धा सहित सेवा करके गदा विद्या प्राप्त की थी।

धर्मयुद्ध में भीमसेन उसे कभी नहीं हरा सकते थे। गदायुद्ध के नियम के विरुद्ध भीमसेन ने उसकी दोनों जंघाओं को तोड़ दिया। गदा-युद्ध में कटि से नीचे प्रहार करना निषेध है, किन्तु श्रीकृष्ण का जिस कार्य में संकेत हो, वह विधि निषेध से परे हो जाता है। दुर्योधन घायल होकर गिर पड़ा। भीम ने क्रोध में भरकर उसके सिर पर पैर रख दिये और भाँति-भाँति से अपमानित करके, विजय का डङ्का बजाते हुए, उसे उसी दशा में वहीं छोड़कर सब अपने-अपने शिविरों की ओर चले गये।

हाय! यह क्षत्रिय धर्म कितना क्रूर है। भाई, भाई को पशु की तरह मार डालता है। पैतृक मोह ममता को त्यागकर ये कैसा नृशंस व्यवहार करते हैं। एक दूसरे के रक्त के प्यासे बन जाते हैं। विधि की कैसी विडम्बना है? धर्म की कैसी सूक्ष्म गति है। कल तक जो संसार में सम्राट् करके सम्मानित था, ११ अक्षौहिणी सेना का स्वामी था। हजारों लाखों मूर्धाभिषिक्त महाराजा जिसका कार्य भृत्य के समान करते थे, आज वही अपने भाई भीम के द्वारा अर्ध मृतकावस्था में पड़ा-पड़ा विलाप कर रहा है। कल तक जिसकी सेवा में लाखों दास-दासी उपस्थित थे, आज उसे कोई पानी देने वाला भी नहीं है। पाण्डव उसे घायल करके वहीं असहाय छोड़कर चले गये। इससे तो अच्छा था, उसे जान से मार देते। अब वह न मरा है, न जीवित। दोनों जाँघों के टूट जाने से वह उठ नहीं सकता। बिना जल के जैसे मछली तड़फती है, उसी तरह वह जाँघों की पीड़ा से तड़प रहा था। गला सूख गया था, कोई पानी देने वाला भी पास नहीं था। पाण्डवों ने इतना भी नहीं किया कि उसकी रक्षा का कुछ प्रबन्ध कर जाते। पाप का परिणाम तो भोगना ही पड़ता है।

उस समय दुर्योधन की दशा अत्यन्त दयनीय थी। युद्ध के मृतक वीरों के रक्त मांस के लोभी, कङ्क, गृद्ध, सियार चारों ओर दौड़ रहे थे। दुर्योधन को भी

वे मृतक शव ही समझते। कभी कोई गीध आता और टूटी जाँघ से माँस नोंचकर भाग जाता, कभी कोई सियार आता। हजारों लाखों गिद्ध, कौए, सियार, गीदड़ वहाँ दौड़ रहे थे। बड़े-बड़े लाल-लाल चोंच के गीधों ने उसे घेर रखा था, किन्तु गदा घुमा-घुमाकर उनसे अपनी रक्षा कर रहा था, किन्तु कब तक घुमाता, एक तो युद्ध से थका था, दूसरे दोनों जङ्घाओं से निरन्तर रक्त के स्रोत बहकर, पृथ्वी को रक्तरञ्जित बना रहे थे। उनमें पीड़ा भी असह्य होती थी। जब घुमाते-घुमाते थक जाता, तभी कङ्क, गृद्ध आकर उसके जीवित शरीर से मांस नोंच ले जाते और भाग जाते। जाँघों के टूट जाने से वह उनका पीछा भी नहीं कर सकता था।

दुर्योधन ने बड़े करुण स्वर में पुकारा—"हाय! आज मेरी यह दशा हो गई। मेरी सेना में यदि कोई बचा हो, तो वह आकर मेरी यह दशा देखे। कोई मेरी यह बात सुनता हो, तो वह मेरे सैनिक सेवकों से जाकर यह सब समाचार जाकर कह दे।"

इधर-उधर वन में घूमने वाले सेवकों ने यह बात जाकर दुर्योधन के सैनिकों से कही। उसकी सेना में द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन प्रधान बच गये थे। कुछ सेना शेष भी थी जब सबने यह समाचार सुना, तः कृपाचार्य को आगे करके सब दुर्योधन के समीप गये। उसकी ऐसी दशा देखकर सभी रो पड़े। सभी दुर्योधन के लिये बिलाप करने लगे।

मनुष्य कितना आशावादी है। सचमुच मनुष्य आशा के ही सहारे जीता है। यदि जीवन में आशा सहचरी न हो, तो कोई एक क्षण भी जीवित न रहे। कोई किसी आशा से, कोई किसी आशा से, अपने को बचाये हुए हैं। संसार का अस्तित्व आशा के ही ऊपर अवलम्बित है।

जिन परशुराम ने एक बार नहीं, दो बार नहीं, इक्कीस बार समस्त पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना दिया, सहस्रार्जुन जैसे हजार-हजार हाथ वाले महान्

पराक्रमी वीर की बाहुओं को जिन्होंने गूलर के फलों की तरह—फरसे से काट-काटकर फेंक दिया, उन्हीं परशुराम को युद्ध में परास्त करने वाले भीष्म मर गये। परशुराम के सभी अस्त्रों को धारण करने वाले, विश्वविख्यात धनुर्विद्या के मर्तिमान रूप द्रोण चल बसे। प्रबल पराक्रमी कर्ण मृत्यु के मुख में विलीन हो गये। शूरवीरों में शिरोमणि शल्य समर में मरकर स्वर्गगामी हुए, स्वयं दुर्योधन भी गदायुद्ध में परास्त होकर मृतप्राय बना हुआ है। कङ्क, गृद्ध जीवित अवस्था में ही जिसके मांस को उसकी आँखों के सामने—नोंचे ले जा रहे हैं, पक्षियों तक से जो अपनी रक्षा करने में असमर्थ है, इतने पर भी अभी उसे विजय की आशा बनी हुई है। आशे! तुम सबको जीवन धारण कराने वाली हो। देवि! तुम्हारे ही पीछे जग में व्यापार है। 'जब तक स्वाँसा तब तक आशा' यह लोकोक्ति सत्य है।

अपने पक्ष के वीरों के आने पर उनसे दुर्योधन ने मन्त्रणा की। उसने फिर युद्ध करना स्थिर किया। शल्य के मरने के पश्चात् अश्वत्थामा को उसने उसी दशा में सेनापति बनाया। आचार्य कृप ने उसी कङ्क, गृद्धों से भरे स्थान में अस्वत्थामा को सेनापति पद पर अभिषेक किया। अश्वत्थामा अपने पिता को छल से मार देने के कारण पाण्डवों पर अत्यन्त ही कुपित था। उसने दुर्योधन के सामने पाण्डवों के वंश का मूलोच्छेदन करने की प्रतिज्ञा की और वह पाप बुद्धि रखकर पाण्डवों के नाश के लिये उद्धत हुआ।

छप्पय

जङ्घा टूटी युगल सुयोधन अति दुख पायो।
कङ्क काक अरु गिद्ध नोंचि वृण-मज्जा खायो।।
अश्वत्थामा सुनत शीघ्र शोकाकुल धायो।
दुर्योधनकी दशा देखि नयननि जल छायो।।
द्रोण तनय नायक किये, साँसा तक आशा रहत।
जैसे जल डूबत तृणहिं, पकरि पार पावन चहत।।

अश्वत्थामा द्वारा पाण्डवों के पाँचों पुत्रों की मृत्यु

(२७)

भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद् विप्रियमेव तस्य
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति।।*

(श्री० भा० १ स्क० ७ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

अश्वत्थामा चल्यो पाप मति मनमहँ आई।
पितृ मृत्यु करि यदि धर्म गति दई भुलाई।।
पाण्डव कुलको बीज नाश कैसे हू होवै।
प्रतिहिंसामहँ घर्म, सत्य सबही नर खोवै।।

---

* द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने यह सोचा कि जैसे भी हो अपने स्वामी का हित करना चाहिये। यही सब सोचकर उसने शिविर में सोये हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के सिर काट लिये। जब उसने यह समाचार दुर्योधन को सुनाया, तो उसने इसके इस कार्य की प्रशंसा नहीं की, क्योंकि निन्दित कार्य की सर्वत्र ही निन्दा होती है।

द्रुपद सुताके सुत सवहिँ, सोवत सुखतें शिविरमे।
तुरत तीक्ष्ण तरवारितें, सिर काटे निशि तिमिरमें।।

प्रतिहिंसा में मनुष्य अपना सब विवेक खो बैठता है। जिसने हमारे विरुद्ध व्यवहार किया है या हमारा कोई अपकार किया है, तब फिर हृदय में क्रूरता आ जाती है। क्रूरता बड़ी निर्दय होती है। वह आते ही धर्म से कहती है—अब इस ध्यान को तुम खाली करो यहाँ तो मैं रहूँगी। सीधे-सादे सरल चित्त धर्म, स्त्री से लड़ाई झगड़ा करना उचित न समझकर वहाँ से चले जाते हैं और क्रूरता वहाँ पर पैर फैलाकर बैठ जाती है। पुरुष उसके वश में हो जाता है, फिर उसके लिये उचित अनुचित का भेद नहीं रह जाता। मेरे विपक्षी का जिस प्रकार भी नाश हो, वही उचित है। ऐसी उसकी दृढ़ धारणा हो जाती है।

जब कौरव-पाण्डव युद्ध में कौरवों की हार हो गई और पाण्डवों की विजय हुई, तब पाण्डवों की ओर तो धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा और भी बहुत से शूर-वीर तथा सैनिक शेष रह गये थे, किन्तु कौरवों की ओर कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ये तीन ही बाकी थे। जब दुर्योधन की अनुमति से कृपाचार्य ने इतने पर भी अश्वत्थामा को सेनापति बनाकर पाण्डवों के नाश के लिये भेजा तो उत्साह में भरकर महावीर अश्वत्थामा अपने दोनों साथियों के साथ पाण्डव-शिविर की ओर चला। रात्रि हो आई थी, वे जाकर एक घने वटवृक्ष के नीचे बैठे। उस समय अश्वत्थामा ने क्या देखा कि सोते हुए कौओं को एक उलूक मार-मारकर नीचे फेंक रहा है अश्वत्थामा के हृदय में प्रतिहिंसा की बहिन क्रूरता आकर बैठ गई थी। उसने भी यही निश्चय किया कि मैं भी पाण्डव पक्ष के बचे हुए वीरों का इसी प्रकार-सोते हुए ही—संहार करूँगा। उसने अपना यह अभिप्राय कृपाचार्य और कृतवर्मा के प्रति प्रकट किया। उन्होंने धर्म का मर्म बताकर बहुत प्रकार से समझाया और ऐसा कार्य करने की सम्मति न दी, किन्तु उसके हृदय में तो प्रतिहिंसा की ज्वाला जल रही थी। वह चल दिया।

जब उन दोनों ने देखा, वह मानने का नहीं, इसने यह क्रूर कर्म करने का निश्चय ही कर लिया है, तब हम भी इसका साथ दें। कैसा भी हो, राजा ने इसे सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया है। इसकी उचित-अनुचित सभी आज्ञाओं का पालन हमें करना चाहिये, यह सोचकर कृतवर्मा, कृपाचार्य उसके पीछे-पीछे चले।

अश्वत्थामा ने देखा, पाण्डवपक्षीय सभी वीर विजय के उल्लास में निश्चिन्त हुए गाढ़ निद्रा में सुखपूर्वक सो रहे हैं। तब उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु उसने देखा शूलमणि शिव शिविर के द्वार पर उपस्थित हुए, उन सबकी रक्षा कर रहे हैं, सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण से तो कुछ छिपा ही नहीं था, वे सब जानते थे। इसीलिये उस दिन पाँचों पाण्डवों को वहाँ से लेकर कहीं दूर चले गये थे। अश्वत्थामा ने स्तुति करके आशुतोष को प्रसन्न किया और वरदान में भीतर जाने की आज्ञा माँगी। भोलेनाथ ही तो ठहरे, कह दिया—"अच्छी बात है, चले जाओ।" बस, फिर क्या था अश्वत्थामा ने सभी सोये हुए सैनिकों, सेनापतियों और बड़े-बड़े वीरों का पशुओं की भाँति संहार करना आरम्भ किया। महाराज द्रुपद के पुत्रों को बुरी तरह-पशुओं की भाँति-मारकर उसने अपने पिता की मृत्यु का बदला चुकाया। सोते हुए पाण्डवों के पाँचों पुत्रों के सिर काटकर, और सबको मारकर, वह शिविर से बाहर निकला। उसे पाण्डव पक्षीय बचे हुए समस्त वीरों के बध से बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। यह सुखद समाचार आकर उसने कृतवर्मा और अपने मामा कृपाचार्य को सुनाया। अपने विपक्षियों के नाश से सभी प्रसन्न होकर मरणासन्न दुर्याधन के समीप गये। वह लम्बी-लम्बी अन्तिम साँसे ले रहा था। मुख से रक्त वमन कर रहा था। गिद्ध, चील, कौए, सियार उसे उसी तरह घेरे हुए बैठे थे, जैसे आचार्य को घेरकर शिष्य बैठे हों अथवा राजा को घेरकर प्रजा बैठी हो, या दाता को घेरकर अभ्यागत बैठे हों, या वर को घेरकर बराती बैठे हों, या शल्य कर्म करने को रोगी को घेरकर चीड़-फाड़ करने वाले चिकित्सक और परिचारक बैठे हों। इन तीनों ने जाकर यह कर्ण प्रिय समाचार दुर्योधन को सुनाया।

पाण्डवों के सर्वनाश से उसे प्रसन्नता तो हुई, किन्तु छोटे-छोटे निरीह सोते बच्चों की मृत्यु का उसने अनुमोदन नहीं किया। पाण्डवों के कुल का नाश होने से उसे मानसिक पीड़ा ही हुई। उसने सोचा—"मेरे कुल में तो अब कोई नाम लेवा पानी देवा रहा नहीं। यदि ये लड़के जीवित रहते, तो हम लोगों को तिलाञ्जलि तो दे देते, श्राद्ध तर्पण तो करते, किन्तु भावी को कौन मिटा

सकता है। दुर्योधन ने बड़े कष्ट से अपने प्राणों को त्याग दिया। कौरवों का वंश नष्ट हो गया, उनके वंश में कोई शेष नहीं रहा। पाण्डवों के द्रौपदी द्वारा उत्पन्न हुए ये पाँच ही पुत्र थे, इनको भी अश्वत्थामा ने मार डाला। अब पाण्डवों का भी वंश परिक्षीण हो रहा था। केवल एक नन्हीं-सी आशा थी। अर्जुन के पुत्र अभिमुन्यु की जो अभी बालक ही थे, जिन्हें कौरवों के पाँच सेनापतियों ने घेरकर अन्याय से मार डाला था, उनकी बहू उत्तरा के पेट में कुछ दिनों का गर्भ था। जब इतने बड़े-बड़े बात-की-बात में मर गये, तो उस तनिक से मांस पिण्ड से—जो अभी भली-भाँति पुरुषाकार में बना भी नहीं—उससे क्या वंश का नाम चलेगा? किन्तु आश, हाय! आशा देवी ने ही सबके शोक को दबा रखा, सभी की दृष्टि उसी बुद्बुद से बने मांस पिण्ड की ओर लगी रही।

प्रातःकाल पाण्डव लौटे। पुत्र शोकातुरा द्रौपदी से अपने भाइयों और पुत्रों की भयङ्कर—हृदय हिला देने वाली—मृत्यु रो-रोकर अपने पाँचों पतियों को सुनाई। पुत्र शोक से वह अधीर हो रही थी। अश्रु उसके रुकते ही नहीं थे। वह बार-बार पछाड़ खाकर गिर पड़ती और फिर बड़े जोर से चिल्लाती—हा! मेरे लाल! हा मेरे भाइयों! उसके वे पाँच पुत्र ही सहारे थे, उसकी दो आँखों के वे ही पाँच तारे थे, उन्हीं पर उसकी सम्पूर्ण आशायें लिपटी थीं, उन्हीं के लिये वह जीवित थी। उन्हीं की श्री वृद्धि के लिये इतना युद्ध किया, उन्हीं के लिये वह सदा चिन्तित रही थी! वे भी मारे गये, समर में नहीं—सोते हुए, बीरों की तरह नहीं—पशुओं की तरह योद्धा के अस्त्र से नहीं, क्रूर पुरुष हत्यारे की हत्या से उनका प्राणान्त हुआ। रोते-रोते उसने आकाश को गुँजा दिया। उसके करुण विलाप को सुनकर आकाशचारी पक्षी भी उड़ने से रुक गये और वे भी उसके दुःख में दुःखी होकर रोने लगे। उसे सान्त्वना देते हुए किरीट माली महाधनुर्धर—श्री कृष्ण ही जिनके रथ को हाँकने वाले हैं वे—अर्जुन अपनी प्रिया पाञ्चाली से बोले—"प्रिये! तुम इतना शोक मत करो। जिसने तुम्हारे पुत्रों का सिर काटा है, उसके सिर को मैं अभी लाकर तुम्हें दूँगा। मेरे गाण्डीव धनुष से छूटे हुए वाण उसके सिर को उसी प्रकार धड़ से अलग कर देंगे, जैसे फेंका

हुआ पत्थर पके फल को पेड़ से पृथक् कर देता है। देवि! तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर में शोक व्याप्त हो गया है। तुम्हारी नस-नस में दुःख लिपट गया है। तुम अभी अपने पुत्रों की मृत्यु का अन्तिम स्नान मत करो। तुम इसी प्रकार शोक को शरीर में लिपटाये बैठी रहो। मैं क्षण भर में ही लौट आता हूँ। तुम्हारे सुतों के संहार करने वाले शत्रु का सिर लाकर तुम्हें दूँगा। उसी पर बैठकर तुम शोक स्नान करना। इससे तुम्हारे शरीर का सभी शोक धुल जायगा। तुम उस आततायी बालहत्या करने वाले निर्दयी के सिर पर अपने शरीर का धोया जल डालकर, उसे नरक से बचा लोगी।"

इस प्रकार भाँति-भाँति से अपनी प्रिय पत्नी द्रौपदी को सान्त्वना देकर कपिध्वज अर्जुन ने अपने मित्र, सखा, मन्त्री और सारथि श्रीकृष्ण से कहा—"वासुदेव! मेरा रथ तैयार कीजिये। आज मैं द्रौपदी का प्रिय कार्य करूँगा। शिखण्डी ने जैसे आचार्य द्रोण का सिर काट लिया था, उसी प्रकार मैं उनके क्रूरकर्मा निर्दयी सुत के सिर को भी काटकर, अपनी प्राणप्रिया के शोक सन्ताप को दूर करूँगा।"

ऐसा सेवक बड़े सुकृतों से, बड़े भाग्य से, पूर्वजन्म के उत्कृष्ट पुण्यों से, नहीं-नहीं भगवत् कृपा से प्रापत होता है, जो सुनते ही स्वामी की सभी आज्ञाओं का यथावत् पालन कर दे। वासुदेव भगवान् तो ऐसे ही सेवक हैं। अपने भक्तों के पीछे-पीछे फिरा करते हैं कि उन्हें कभी कोई कष्ट न हो। उनकी पदधूलि व्यर्थ में उड़ न जाय, उससे मेरा शरीर पावन बन जाय, अर्जुन के कहते ही उन्होंने सुन्दर रथ लाकर खड़ा कर दिया और बोले—"कुन्तीनन्दन! तुम्हारा रथ तैयार है। देर करने का अब काम नहीं। तुरन्त उठो और अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करो।"

अपने सच्चे सारथि के सामयिक सारगर्भित वचन सुनकर गाण्डीवधारी अर्जुन ने अपना दिव्य कवच पहना और अपने अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर, रथ में आकर बैठ गये। भगवान् वासुदेव ने तोत्र के प्रहार से घोड़ों को

हाँक दिया। रथ चल पड़ा और वह वायु से बातें करने लगा। आगे चलते ही अर्जुन ने जाते हुए अश्वत्थामा को देखा। अपने आगे पीछे गाण्डीवधारी अर्जुन को आते देख, अश्वत्थामा की सभी सिटिल्ली भूल गई। वह स्थिर न रह सका कि अब करूँ तो क्या करूँ। सर्वेश्वर हैं। सारथि, जिसके ऐसे पार्थ के सम्मुख युद्ध करने का साहस उसे नहीं हुआ। अत: वह प्राण लेकर शीघ्रता के सहित भागा। अर्जुन ने भी उसका उसी प्रकार पीछा किया जैसे कि श्रीशङ्कर ने सूर्य का पीछा किया था।

ऋषियों ने पूछा—"महाभाग शिवजी ने सूर्य का पीछा क्यों किया? इस कथा को भी प्रसङ्गवश हमें सुनाकर तब आगे बढ़ें।"

सूतजी बोले—"मुनियो! यह कथा बड़ी विचित्र है। अत्यन्त संक्षेप में उसे आपके सम्मुख मैं सुनाता हूँ। विद्युन्माली नाम का एक दैत्य था। उसने एकान्त में जाकर शिवजी की दत्तचित्त होकर बहुत दिनों तक आराधना की। उसकी कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर, शिवजी ने उसे एक दिव्य विमान दिया। वह सूर्य के समान चलता था, बड़ा ही सुन्दर वेगवाला और प्रभा से परिपूर्ण था। उस पर चढ़कर वह दैत्य रात्रि में घूमता था। जहाँ भी वह जाता, दिन की तरह प्रकाश हो जाता। उस मन्दमति ने सूर्य भगवान् से प्रतिस्पर्धा कर ली। सूर्यदेव को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने अपनी तीक्ष्ण किरणों से विद्युन्माली के विमान को भस्म कर डाला। अब वह दैत्य बहुत क्रुद्ध होकर ही क्या कर सकता था। बहुत तीन-पाँच करता, तो उसकी भी वही दशा होती, जो उसके विमान की हुई है। इसलिये सूर्यदेव से सीधा विरोध न करके, वह अपने वरदाता भगवान् शङ्कर के समीप जाकर रोया, सब समाचार बताते हुए उसने निवेदन किया—"भगवन्! विमान के नष्ट का मुझे उतना दु:ख नहीं है, जितना दु:ख कि आपके अपमान करने का है। मेरा तो उसमें क्या था, उसमें शक्ति तेज आपका था, आपके ही प्रभाव से मैं निर्भय होकर घूमता था। सूर्यदेव ने उसे नष्ट करके आपका तिरस्कार किया है। आपके तेज की अवहेलना की है।

आपको उसने कुछ न समझकर युद्ध के लिये ललकारा है। मेरी गति तो आप ही हैं। आप तक ही मेरी पहुँच है।"

भोलानाथ उस दैत्य की बातों में आ गये और सूर्य भगवान् की पीछे दौड़े। अपने पीछे त्रिशूल लिये शिवजी को देखकर जैसे सूर्य भगवान् भागे थे, वैसे ही अश्वत्थामा अपने पीछे अर्जुन को आते देखकर भागे।

मुनियों! सूर्य और शिवजी की तो बड़ी कथा है। सार यही हुआ, सूर्यदेव ने फिर काशी में आकर शिवजी की ही शरण ली, तब शिवजी ने उन्हें क्षमा कर दिया। काशी में जहाँ सूर्यदेव ने शरण ली। वह लोलार्क कुण्ड के नाम से अब भी परम पावन तीर्थ प्रसिद्ध है।

हाँ, तो अर्जुन ने भी अश्वत्थामा का पीछा किया और शीघ्र ही उसे पकड़ लेने का प्रयत्न किया, किन्तु अश्वत्थामा नेअपने रथ को वायु के समान दौड़ाया, उसे अपने प्राणों की पड़ी थी, किसी प्रकार वह साक्षात् मृत्यु रूप अर्जुन के बाण से बचना चाहता था, किन्तु जिस रथ के सारथी श्रीकृष्ण हैं, उस रथ के आगे कोई रथ जा ही कैसे सकता है। अश्वत्थामा के घोड़े थक गये। सारथि रथ को आगे बढ़ाने में विवश हो गया, तब अश्वत्थामा घबड़ाया। उसने सोचा—अब तो मेरे प्राण गये।

मरता क्या न करता, उसने अपना एकमात्र सहारा ब्रह्मास्त्र को ही समझा। यद्यपि वह ब्रह्मास्त्र का उपसंहार-लौटाना-नहीं जानता था। सिखाते समय आचार्य ने कह भी दिया था—तुम इसका प्रयोग मनुष्यों पर न करना, यह तुम्हारी विद्या अधूरी है। किन्तु उसे तो अपने को बचाना था। ब्रह्मास्त्र अव्यर्थ होता है। उसका प्रहार अमोघ होता है। कोई भी अस्त्र उसे हटा नहीं सकता। जिसको लक्ष्य करके छोड़ा जाय, उसके बिना प्राण लिये वह लौट नहीं सकता। अब तो अर्जुन घबड़ाये। उन्होंने ब्रह्मास्त्र के सम्मुख अपने को निर्बल पाया। 'निर्बल के बल राम'—यही सोचकर वे अपने सारथि श्रीकृष्ण की शरण में गये।

दशों दिशाओं को अपने प्रचण्ड प्रकाश से प्रकाशित करता हुआ वह असह्य अस्त्र, अर्जुन की ही ओर आ रहा था। उसे अपनी ही ओर आते देखकर अर्जुन अत्यन्त ही आर्त होकर अचिन्त्य शक्ति वाले अच्युत की स्तुति करने लगे। उसने भयभीत होकर कहा—"हे प्रभो! हे अचिन्त्य शक्ति वाले श्रीकृष्ण! हे महाभाग! आप भक्तवत्सल हैं, करुणासागर हैं, प्रपन्न पारिजात हैं। आप इस संसार रूपी दावानल से दग्ध हुए प्राणियों के एकमात्र आश्रय हैं। जलती हुई ज्वाला से बचाकर आप मुक्ति मार्ग को दिखाने वाले हैं। आप प्रकृति से परे, माया के स्वामी, सिद्धि के दाता, दुखियों के त्राता, मोक्ष के स्वामी हैं। फिर भी आप धर्म रक्षक हैं, कर्मों के नियामक हैं। पृथ्वी का भार उतारने के लिये आप अवनि पर अवतरित होते हैं, अधर्म का नाश करते हैं, धर्म की रक्षा करते हैं। इतना सब होने पर भी आपके अवतार का प्रयोजन भू-भार हरण मात्र ही नहीं है। वह तो उपलक्षण मात्र है। आपके अवतार का प्रयोजन तो भक्तों का भय हरना ही हैं। मैं आपका भक्त हूँ—आप में अनुरक्त हूँ, मेरे ऊपर विपत्ति आ रही है। उससे आपके अतिरिक्त मुझे कौन बचा सकता है। कौन इस असह्य दुर्द्धर्ष तेज से मेरी रक्षा कर सकता है? यह प्रलयानल के समान उठती हुई अग्नि की लपटें—जो मेरी ही ओर आ रही हैं क्या है?"

भगवान् ने अपने भक्त को सान्त्वना देते हुए कहा—"पाण्डुनन्दन! तुम घबड़ा गये क्या? अरे, तुम नहीं जानते यह क्या है?"

शीघ्रता से अर्जुन ने कहा—"नहीं महाराज! मैं नहीं जानता। यह तीनों लोकों को भस्म करने वाली प्रलय की अग्नि ही प्रतीत होती है। प्रलय का समय न होने पर भी यह कैसे प्रकट हुई?"

भगवान् हँसे और बोले—"पार्थ! यह प्रलयाग्नि नहीं है, इसे तुम अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र जानो।"

व्यग्रता के स्वर में अर्जुन ने कहा—"एक ही बात हुई, ब्रह्मास्त्र भी

प्रलयानल से क्या कम है। इसका भी काई प्रतीकार नहीं, यह भी अमोघ है। बिना प्राण लिये लौटेगा नहीं।

भगवान् ने कहा—"हाँ, इसका एक प्रतीकार है। तुम भी ब्रह्मास्त्र छोड़ दो।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज! यह तो बड़ी गड़बड़ी हो जायगी। एक ही तेज असह्य है। एक ही तीनों लोकों को भस्म करने में समर्थ है, फिर दो मिलकर तो चराचर को नष्ट कर देंगे। निरपराध निरीह प्राणी व्यर्थ ही मारे जायँगे।"

भगवान् ने कहा—"देखो, तुम ब्रह्मास्त्र को छोड़ो, दोनों अस्त्र आपस में टकरावेंगे। तब तुम दोनों को इसी तरफ खींच लेना जिस तरह कुष्टं में पड़े लोहे के डोल को रस्सी में बँधा हुआ काँटा फँसा लेता है और फिर दोनों के साथ खींचकर बाहर आ जाता है।"

अर्जुन ने कहा—"यदि वही दोनों को खीच ले तो?" भगवान् हँसकर बोले—"यही तो उसमें तुम्हारे अपेक्षा कमी है। उसकी विद्या अधूरी है। वह अस्त्र का उपसंहार नहीं जानता। तुम्हारी विद्या पूरी है। तुम सब अस्त्रों के ज्ञाता हो, सभी अस्त्रों का उपसंहार-छोड़ना लौटाना—सब जानते हो। अब देरी का काम नहीं है। नहीं तो यह तुम्हारे प्राणों को नष्ट करके संसार को नष्ट कर देगा।"

भगवान् की आज्ञा पाकर अर्जुन ने ऐसा ही किया। उसने भी विधिवत् आचमन करके, शीघ्रता के साथ भगवान् वासुदेव की परिक्रमा की और मन्त्र सहित ब्रह्मास्त्र को रोकने के सङ्कल्प से, ब्रह्मास्त्र का ही प्रयोग किया। विष की औषधि विष ही बताई है। अर्जुन के अस्त्र से अश्वत्थामा का अस्त्र टकराया, दोनों अस्त्रों के टकराने से बड़ी-बड़ी अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन दोनों का तेज ऐसा बढ़ने लगा मानों प्रलय की अग्नि बढ़ रही हो, या जगत् का नाश करने के लिये सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणों से समस्त चराचर

जगत् को भस्म करने के लिये तप रहा हो। आकाश, पाताल और पृथ्वी पर सर्वत्र हाहाकार मच गया। विमान में घूमने वाले देवता घबड़ाये। सबने समझा संसार को स्वाहा करने के निमित्त संवर्ताग्नि की ज्वालायें उठ रही हैं। असमय में ही प्रलय होने वाली है। ऋषि मुनियों ने जगत् की मङ्गल कामना के निमित्त जलती हुई अग्नि में हवन किया। मङ्गल स्त्रोतों का पाठ किया। जगत् का कल्याण हो! चराचर संसार सुखी हो! वे बार-बार यही कहने लगे।

तीनों लोकों को दुखी देखकर भगवान् वासुदेव अर्जुन से बोले—हे वीर! अब तुम दोनों अस्त्रों का उपसंहार कर लो, नहीं तो यह सम्पूर्ण संसार इनकी ज्वालाओं से स्वाहा हो जायेगा।"

भगवान् की आज्ञा पाकर अर्जुन ने दोनों अस्त्रों का अपने मन्त्र बल से उपसंहार कर लिया। दोनों सौम्य रूप से अर्जुन के समीप लौटकर आये। संसार में शान्ति का साम्राज्य छा गया। सभी जीव सुखी हुए। देवताओं ने अर्जुन के ऊपर पुष्प वृष्टि की, गन्धर्व गाने लगे और अप्सरायें आनन्द के साथ नृत्य करने लगीं।

अपने अस्त्र को व्यर्थ हुआ देखकर इधर अश्वत्थामा घबड़ाया। अब वह किङ्कर्तव्य विमूढ़ हो गया। वही एक उसके पास अन्तिम अवलम्ब था। वह भी उसकी रक्षा न कर सका। तब तो वह मुट्ठी बाँधकर दौड़ा। अर्जुन ने कहा—"वासुदेव! मेरा रथ खड़ा कर दीजिये।" भगवान् ने वैसा ही किया। अर्जुन अत्यन्त ही शीघ्र रथ से कूद पड़े। जैसे सिंह हाथी के ऊपर झपटता है, इसी प्रकार बड़े वेग से दौड़कर उन्होंने भागते हुए अश्वत्थामा को पकड़ लिया और क्रोध के साथ बोले—"अर्जुन से भी तू बचकर जाना चाहता है क्या? तू यदि पृथ्वी के भीतर छिप जाय, तो पृथ्वी फोड़कर तुझे पकड़ सकता हूँ। स्वर्ग में इन्द्रासन के नीचे छिप जाय तो वहाँ से तेरी चोटी पकड़ ला सकता हूँ। दुष्ट तुने सोते हुए बच्चों को मारा है और फिर मेरे सामने से ही तू प्राण बचाकर भागना चाहता है। अब अपने किये का फल भोग!" ऐसी अनेक बातें कहकर

अर्जुन ने उसे पशुओं की तरह रस्सी सेबाँध लिया और घसीटकर रथ के समीप ले आये। वहाँ आकर उन्होंने रथ के पीछे दृढ़ रस्सियों से उसे कस दिया। इस प्रकार उसे जीता ही बाँधकर वे अपने शिविर की ओर चले।

छप्पय

पुत्र शोकतें दुखी द्रौपदी अति बिलखाई।
मूर्छित ह्वैके गिरी पार्थ प्रिय कहि समुझाई।।
त्यागहु चिन्ता शोक तीर ले तुरतहि जाऊँ।
जे काटे सुत शीश, काटि सिर ताको लाऊँ।।
केशववूँ करि सारथी, चले शत्रु पीछो कियो।
ब्रह्म अस्त्र निज अस्त्रतें, काटि पकरि गुरुसुत लियो।।

अश्वत्थामा को प्राणदान

(२८)

तथाऽऽहृतं पशुवत् पाशबद्ध-
मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं-
वामस्वभावा कृपया ननाम च।।*

(श्री० भा० १ स्क० ७ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

पशु समान दृढ़ बाँधि लाई पत्नीकूँ दीन्हों।
गुरु-सुत सम्मुख समुझि, चरन बन्दन उठि कीन्हों।।
दया दृष्टितें देखि, द्रौपदी बोली बानी।
छोड़ो इनको अबहिं दण्ड दें, होगी हानी।।
कृष्णा कृष्ण कनिष्ट बड़, सबईको कहनो कर्‌यो।
मूँड़ि बार बाहिर कर्‌यो, माथेको मुक्ता हर्‌यो।।

---

* पशु के समान बाँधकर लाये हुए अश्वत्थामा को देखकर, जो अपने नीच कर्म के कारण लज्जा से नीचा मुख किये खड़ा है, उसे देख द्रौपदी दया से द्रवीभूत हो गई। यद्यपि वह महान् अपराधी था, फिर भी गुरुका पुत्र है, यह सोचकर द्रौपदी ने अपने नारी सुलभ कोमल स्वभाव के कारण उसे नमस्कार किया।

प्रभु अपने आप ही तो अपने निजी जनों को भक्ति योग प्रदान करते हैं। अपने आप ही उनके हृदय में सद्गुणों के रूप में बैठकर पुण्याचरण कराते हैं और आप ही परीक्षा लेते हैं। कैसी क्रीड़ा है, कैसा अद्भुत कुतूहल है? जैसे बालक दर्पण में अपनी चेष्टाओं को देखता है, अपने आप ही मुँह बनाता है, आँखे मटकाता है, सैंन चलाता है, फिर उन्हीं सबके प्रतिबिम्ब को देखकर हँसता है, सुखी होता है, आनन्द में मग्न होकर नृत्य करने लगता है। यही दशा इन पार्थ सारथि की है।

अर्जुन ने जब अश्वत्थामा का सिर धड़ से अलग नहीं किया, किन्तु उसे जीवित ही बाँधकर शिविर की ओर ले चले, तो बनावटी आश्चर्य से अपने कमल के समान नेत्रों को फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखते हुए बनावटी क्रोध के स्वर में वासुदेव बोले—"अरे अर्जुन! यह क्या? तुम तो इसे जीवित ही ले चल रहे हो! इसे मार क्यों नहीं डालते?"

अर्जुन ने दीनता के साथ कहा—"कैसा भी हो, प्रभो! है तो ब्राह्मण ही। सब स्थानों पर क्षत्रियों का तेज काम देता है, किन्तु ब्राह्मण के सम्मुख आते ही वह कुण्ठित हो जाता है।"

क्रोध से दाँत पीसते हुए देवकीनन्दन बोले—"अरे यह दुष्ट अब भी ब्राह्मण बना रहा? इस नाममात्र के निर्दयी, नीच ब्राह्मण को तुम बिना विचारे मार डालो। सोचो तो सही, इस नीच निर्लज्ज ने रात्रि के समय सोते हुए बालकों को निरपराध ही मार डाला है।"

अर्जुन ने दुःख के साथ कहा—"वासुदेव! क्षत्रिय कर्म ऐसा ही क्रूर है। इस ब्रह्मबन्धु ने भी क्षत्रिय कर्म का ही अवलम्ब लिया है। क्षत्रिय धर्म में पग-पग पर हिंसा, क्रूरता और निर्दयता भरी है।"

भगवान् ने कहा—"भाई यह सत्य है कि युद्ध में क्षत्रिय भाई-भाई का सिर काटता है। वहाँ दया नहीं दिखाता, किन्तु उसके भी कुछ नियम हैं। युद्ध में अस्त्र लेकर सामने आये अपने शत्रु का वध करना यद्यपि धर्म है, फिर भी

धर्म के जानने वाले लोग—शत्रु होने पर भी—इतने लोगों को नहीं मारते हैं। जो किसी मादक आदि द्रव्यों के सेवन से या रोगादि से मतवाले हो गये हों अथवा जो असावधान हों। जिनका मस्तिष्क आदि बिगड़ गया हो ऐसे पागलों को, निद्रा में सोते हुए को, जो अभी बालक हो, अबला स्त्री हो, मूर्ख हो, अपनी शरण में आ गया हो, जिसका लड़ते-लड़ते युद्ध में रथ टूट गया और जो भयभीत होकर भाग रहा हो—इतने लोगों पर, शत्रु होने पर भी प्रहार करना पाप है। इस नीच ने तो एक नहीं, कई अपराध किये हैं। वे बेचारे बच्चे लड़े नहीं थे, अभी युद्ध कला में अभिज्ञ थे। उनसे इसकी कोई शत्रुता भी नहीं थी, फिर वे अचेत सो रहे थे। इतना पाप करने वाला कोई भी हो, उसे मारने में कोई पाप नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"हमारे बच्चे तो मारे ही गये। अब इसे मारकर ही क्या लाभ? इसमें न हमारा ही कल्याण है, न इसी का।"

भगवान् बोले—"नहीं, इसे मार डालने में दोनों का कल्याण है और उसे छोड़ देने में दोनों का ही अनिष्ट है। यदि इसे अभी मार डालें, तो द्रोपदी प्रसन्न होगी, हम अपने बच्चों का बदला चुका लेंगे। शत्रु पक्ष का एक प्रबल योद्धा मारा जायगा और यह भी नरक से बच जायगा। यदि इसे अब छोड़ दिया गया, तो यह क्रूर अपनी क्रूरता छोड़ेगा नहीं। फिर कुछ अवश्य ही अनिष्ट करेगा। इससे सदा शङ्का ही बनी रहेगी और यदि इसे इसके पाप का दण्ड न देकर क्षमा कर दिया गया, तो अपने घोर पाप के कारण इसे नरक की भीषण अग्नियों में तपना पड़ेगा। यों भी इसे मार देने से इसके पाप का तुरन्त प्रायश्चित हो जायगा। अतः इसका वध उभय पक्ष के लिये श्रेयष्कर है।"

अर्जुन ने कहा—"अपने आप इसे अपने पाप का फल मिलेगा। मैं ब्रह्महत्या जान-बूझकर क्यों करूँ।"

भगवान् बोले—"ब्रह्महत्या से अब डरता है प्रतिज्ञा करके उसका पालन न करना यह कोई पाप ही नहीं। तुमने हमारे सामने द्रौपदी से प्रतिज्ञा की थी

कि तेरे पुत्रों के सिर काटने वाले का सिर काटकर तुझे दूँगा, तू इस पर बैठकर मृतक स्नान करना। सो, उस प्रतिज्ञा को पूरी करो। तुरन्त इसे मार डालो। अब इसमें सोच-विचार करने को स्थान नहीं है।"

अर्जुन ने कहा—"इसने अपने स्वामी दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये ऐसा क्रूर कर्म किया होगा?"

भगवान आवेश के स्वर में बोले—"सो भी तो नहीं हुआ। इससे दुर्योधन का कौन-सा प्रिय कार्य हुआ? इसके इस निन्दित कर्म से उसे भी तो प्रसन्नता नहीं हुई। इसने तो यह निर्दयता पूर्ण कार्य अपनी क्रूर बुद्धि से व्यर्थ ही कर डाला।"

जिसके समीप हम सदा रहते हैं, उसकी चेष्टा, भावभङ्गी को हम समझने लगते हैं कि इस बात को ये किस स्वर में कह रहे हैं। अर्जुन ने भगवान की मुखाकृति को देखकर उनके आन्तरिक भावों को पढ़ा, पढ़कर उसने समझ लिया कि द्रोण और भीष्म के वध के समय जैसी आज्ञा थी, आन्तरिक प्रेरणा थी, वह अब नहीं है। यह क्रोध बनावटी है। इसमें मेरे धैर्य की परीक्षा का भाव है कि पुत्रघाती—आततायी—गुरुपुत्र के प्रति इसके मन में कितना रोष है। इसीलिये बार-बार प्रेरित करने पर भी महा बुद्धिमान् अर्जुन ने अपने आचार्य द्रोण के इकलौते पुत्र को, मन से भी मार डालने का विचार नहीं किया। बात को टालते हुए वे गोविन्द से बोले—"अच्छी बात है जैसी आपकी आज्ञा होगी उसका पालन तो किया ही जायगा। इस समय तो इसे जीवित ही ले जाकर हमें द्रौपदी को दे देना है। वहाँ महाराज युधिष्ठिर भी उपस्थित होंगे, वे सम्राट् हैं। सब मिलकर इसके लिये जो दण्ड निश्चित करेंगे, वह दण्ड इसे दिया जायगा। अब तो आप शिविर की ही ओर मेरे रथ को ले चलें।

अपने शूरवीर रथी की आज्ञा पाकर—प्रेम के ही कारण जो सेवक और सारथी का स्वांग बनाये हुए हैं—उन वासुदेव ने वायु वेग वाले रथ को बड़े ही वेग से हाँक दिया। पलक मारते-मारते वे अपने शिविर के समीप आ पहुँचे।

शिविर के सम्मुख रथ को खड़ा करके, अर्जुन ने रस्सियों से पीछे विस्तरे की भाँति बँधे हुए अश्वत्थामा को खोला। जैसे मदारी रीछ, बन्दरों को बाँधकर ले जाता है, वैसे ही उसके गले में रस्सी बाँधकर घसीटते हुए अर्जुन उसे शिविर में ले चले।

दूर से ही द्रौपदी ने देखा। द्रोण पुत्र अश्वत्थामा को अर्जुन पशु की तरह रस्सी से बाँधकर ला रहे हैं। पाप कर्म करने से जिसकी श्री नष्ट हो गई है, अपमान के कारण जिसका मुख मलिन हो गया है, जो लज्जा के कारण सिर को ऊपर नहीं उठाता है। ऐसी दशा में अपने गुरुपुत्र को देखकर द्रौपदी रो पड़ी। हाय! ये मनुष्य कितने क्रूर होते हैं? महल में पधारने पर जिनकी मैं देवता के समान पूजा करती थी, आज उन्हें इतने अपमान के साथ ये मेरे पति घसीटकर ला रहे हैं। नारी सुलभ करुणा के कारण पाञ्चाली के दोनों कपोल भीग गये। यह पुत्रों की मृत्यु को भूल गई। दौड़कर उसने बँधे हुए अश्वत्थामा के सामने घुटने टेक दिये। अपने वस्त्रों को सम्हालकर अञ्चल को पसारकर उसने पृथ्वी पर सिर टेककर अश्वत्थामा को प्रणाम किया। उसके दोनों कमल नेत्रों से निरन्तर अश्रु बह रहे थे। गला भर जाने के कारण वह कुछ कह भी न सकी।

अर्जुन ने आते ही कहा—"देवि! लो, यही तुम्हारे सोते हुए पाँचों पुत्रों की क्रूरता से हत्या करने वाला हत्यारा है। इसे तुम जो कहा वही दण्ड दिया जाय।"

इतना सुनकर रोती हुई—दोनों हाथों को ऊपर उठाकर उन्हें हिलाते हुए—द्रौपदी कहने लगी—"अरे इन्हें छोड़ दो, छोड़ दो। राम-राम कैसा क्रूर कर्म तुमने किया है? ब्राह्मण का इतना अपमान?"

अर्जुन ने दाँत पीसते हुए कहा—"अब यह ब्राह्मण नहीं रहा। यह आततायी हत्यारा और क्रूरकर्मा है।"

विलखते हुए द्रौपदी ने कहा—"कैसे भी हो—हमारे तो ये देवता ही हैं। सदा से हमने इनके पैर पूजे हैं और सदा पूजते रहेंगे। इनकी करनी इनके साथ

है, वे अपना धर्म छोड़ें तो छोड़ते रहें, हमें तो अपने धर्म पर ही अटल रहना चाहिये।"

अर्जुन बोले—"हमारे देवता तो द्रोणाचार्य थे, उन्हें भी हमने युद्ध में मार डाला, जो धर्म में स्थित थे, पूज्य थे, सेनापति थे। यह तो दुष्ट है, अधर्म है, धर्म से च्युत है।"

द्रौपदी अपने हाथ से अर्जुन के मुख को बन्द करती हुई बोली—"ना, ना, ऐसा मत कहो। इनमें और भगवान् द्रोण में अन्तर ही क्या है। अपनी आत्मा ही तो आत्मज होकर उत्पन्न होती है। पुत्र पिता की ही प्रतिमूर्ति है। उन्हीं का दूसरा रूप है। पुरुष अपनी पत्नी में स्वयं ही उत्पन्न होता है। इसलिये पत्नी को जाया कहा गया है। आप इन्हें भूलकर भी दूसरा न समझें। जिनसे आपने रहस्य सहित धनुर्वेद तथा समस्त अस्त्र-शस्त्र तथा उनका प्रयोग उपसंहार सीखा है, ये वे ही भगवान् द्रोण साक्षात् पुत्र रूप से, आपके सम्मुख उपस्थित हैं। आप इन्हें उन्हीं का स्वरूप समझकर पूजें।"

अर्जुन सूखी हँसी हँसकर बोले—"अब पुत्र शोक भूल गईं? पहिले रोते-रोते क्या कह रही थीं? अब बड़ी क्षमावती बन गईं?"

द्रौपदी ने बड़े विनय से रिरियाते हुए कहा—"देखो, मेरी हँसी मत उड़ाओ। एक तो मैं स्वयं ही पुत्र शोक से दुखी हूँ, फिर ब्रह्मशाप से मुझे और दुखी क्यों बनाते हो? इन्हें मारने से अथवा इनका अपमान करने से, मेरे पुत्र जीवित तो हो नहीं जायँगे। वे तो अपने कर्मानुसार मारे गये। अब एक नया पाप करके अपने सम्पूर्ण कुल को कलङ्कित क्यों करें? तुम पुरुषों की छाती तो बज्र की होती है। तुम्हें पता नहीं, पुत्र शोक से माताओं को कितना कष्ट होता है। उसे मैं ही भोग रही हूँ। इन्हें मारकर उन देवी गौतमी-द्रोण पत्नी-को भी मेरी ही भाँति दुखी क्यों बनाते हो। अपने पति के परलोक गमन के अनन्तर वे पतिव्रता कभी भी जीवित नहीं रह सकती थीं, किन्तु अपने इस पुत्र का मुख देखकर वे किसी प्रकार प्राणों का धारण किये हुई हैं। अब इन्हें भी तुम मार

दोगे, तो निश्चय ही वे अपने प्राणों का परित्याग कर देंगी। इस प्रकार दो ब्रह्महत्याओं का पाप हमारे सिर पर लगेगा।"

हे महाभाग! आप तो धर्म के मर्म को भली भाँति जानने और मानने वाले हैं। आप फिर ऐसा निन्दित कर्म करने पर क्यों उतारू हो रहे हैं? आपका कुल बड़ा श्रेष्ठ हैं, सर्वत्र उसका गौरव है, फिर आप ब्रह्महत्या करके और कुल को कलङ्कित करना क्यों चाहते हैं? आपकी ये बातें शोभा नहीं देती। हमारे गुरु वंश के ये ही तो बीज हैं। वह हमारे ही द्वारा नष्ट हो, यह तो अपने ही हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने के समान हुआ। ब्राह्मणों को दुख देकर किसने सुख पाया है। ब्रह्मद्रोही सदा से कुल सहित समूल नष्ट ही होते देख गये हैं। इसलिये आप कृपा करें। पाप-से-पाप की वृद्धि न करें। मुझ दुखिया को और अधिक दुखी न बनावें। ब्राह्मण की रक्षा करें, उनकी हत्या की बात मन में भी न लावें।

पास ही बैठे हुए भीमसेन सब बातें सुन रहे थे, उनसे अब अधिक न सुना गया। द्रौपदी को डाँटते हुए, लाल-लाल आँखे करके क्रोध के साथ बोले—"चल हट, आई कहीं की! बड़ी दया दिखाने वाली। दुष्टों पर कहीं दया की जाती है? क्रूरकर्मा कृपा के पात्र नहीं होते। नीचों पर क्षमा करने से उनका उत्साह और बढ़ता है। साँपों को दूध पिलाने से विष की ही वृद्धि होती है। नीचों को दण्ड देना ही उनके साथ कृपा करना है। खलों का नाश करना ही संसार का कल्याण करना है। हमारे नन्हें-नन्हें बच्चों को मारकर इस नीच ने कौन-सी वीरता का कार्य किया? उन दुधमुँहे बच्चों ने इसका क्या बिगाड़ा था, उन्हें मारकर इसने कौन-सा लाभ प्राप्त किया? दुर्योधन को ही इसे प्रसन्न करना था तो हमें मारता। हमारे मरने पर दुर्योधन प्रसन्न भी होता, हमसे ही उसकी शत्रुता थी। इन बच्चों के मरने से उसे भी तो हर्ष नहीं हुआ। इसलिये अर्जुन? इसे बकने दो, तुम अभी इसका सिर काटकर इसके पाप का प्रायश्चित कर दो। जिस लोक को हमारे बच्चे गये हैं, उसी में इस दुष्ट को भी पहुँचा

दो।"

द्रौपदी कुपित भीम की बातें सुनकर भयभीत हरिनी की भाँति अपने पति धर्मराज युधिष्ठिर की ओर देखने लगीं। उसकी विवशता को अनुभव करके गम्भीर स्वर में धर्मराज बोले—"यद्यपि इसने काम तो बुरा ही किया, फिर भी ब्राह्मण तो ब्राह्मण ही है। हमारी सम्मति में इसे मारना उचित नहीं। फिर भगवान वासुदेव जैसा कहें।"

नकुल सहदेव ने भी धर्मराज की हाँ-में-हाँ मिलाई। पास में बैठी हुई पाण्डवों की और भी रानियाँ अश्वत्थामा की ऐसी दशा देखकर रोने लगीं। उन्हें भी ब्राह्मण का वध प्रिय नहीं था। अब श्रीकृष्ण के मुख की ओर सबकी दृष्टि लगी थी। श्रीकृष्ण जो चाहेंगे वही होगा। अश्वत्थामा के प्राण अब भगवान की आज्ञा के अधीन है। अब तो भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा अन्य रानियों के अभिप्राय को समझकर हँसते हुए वासुदेव अपने प्रिय सखा अर्जुन से बोले—"अर्जुन! इसी समय तुम्हारी बुद्धि की परीक्षा है। देखो द्रौपदी जो कह रही है, यद्यपि वह नारी सुलभ कोमलता और दया के वशीभूत होकर कह रही है, फिर भी उसका वचन धर्म सम्मत है। ब्राह्मण सभी दशा में अबध्य बताया गया है। उसका शारीरिक बध शास्त्रकारों ने वर्जित किया है। इसके विरुद्ध भीम जो बात कह रहा है, वह शास्त्र सम्मत ही है। क्योंकि शास्त्रकारों ने अग्नि लगाने वाला, जहर देने वाला, शस्त्र लेकर लड़ने को आने वाला, पर धन हरण करने वाला, खेत तथा स्त्री छीनने वाला इन छः को आततायी बताया है। आततायी यदि वेदज्ञ ब्राह्मण भी हो तो बिना विचार के मार डाले। इसने अपना ब्राह्मण छोड़ दिया है। यह वध करने योग्य है। अब दोनों को ही तुम सन्तुष्ट कर सकते हो तो करो।"

अर्जुन भगवान के वाह्य प्राण ही थे। उनके सभी अभिप्रायों को समझने की उनमें शक्ति थी। अन्तर्यामी प्रभु स्वयं उनके हृदय में बैठकर सब कार्य कराते थे। अर्जुन ने सोचा—"शास्त्रों में दो प्रकार का वध बताया है, एक

शस्त्र वध और दूसरा अशस्त्र वध। सम्मानित गुरुजन, राजा और स्त्री इन तीनों को अबध्य बताया है। सम्मुख शस्त्र लेकर युद्ध में आये हों उस दशा को छोड़कर—शेष समय में—इनका वध न करे। बड़े लोगों का अपमान कर देना ब्राह्मण का सर्वस्व छीनकर माथा मुड़कर, उसे देश से निकाल देना, पत्नी को शैय्या से पृथक् कर देना और राजा की आज्ञा को भङ्ग कर देना शास्त्रकारों ने इन तीनों के ये शस्त्र रहित वध ही बताये हैं। अतः इसका भी ऐसा ही वध कर दें। इससे द्रौपदी और धर्मराज की भी बात रह जायगी, भीम का भी कहना हो

जायगा और भगवान् भी इससे सन्तुष्ट हो जायँगे। यह सोचकर उन्होंने तुरन्त अपनी तीक्ष्ण तलवार निकालकर, अश्वत्थामा के सिर पर जो जन्म से ही देदीप्यमान अमूल्य मणि थी, उसे बालों सहित निकाल लिया। मणि के निकलते ही उसका मुख मण्डल तेजहीन हो गया। इस प्रकार उसे तेज और मणि दोनों से हीन करके माथा मूड़कर, उसका बन्धन खोल दिया और धक्का

देकर शिविर से निकालते हुए कहा—"जा भाग जा, अब यहाँ अपना मुँह मत दिखाना।"

इस प्रकार अपमानित होकर अश्वत्थामा शिविर से निकल तो गया, किन्तु उसके मन का मैल नहीं गया। वह यही चिन्ता करने लगा कि पाण्डवों से किस प्रकार अपने इस घोर अपमान का बदला लूँ?

छप्पय

गुरुसुत विप्र बिचारि पुत्र घाती नहिं मार्‌यो।
अति अपमानित भयो युद्ध करि सम्मुख हार्‌यो।।
मैल न मनको गयो हिये प्रतिहिंसा धारी।
पाण्डुवंशको नाश करूँ यह बात बिचारी।।
घाव पुरै गड़हा भरै, नर अपमान न भूलहीं।
खल मन मोती दूध ये, जुरत फेरि फटके नहीं।।

गर्भस्थ परीक्षित् की रक्षा

(२९)

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।
कामं दडतु मां नाथ मा में गर्भो निपात्यताम्।।*

(श्री० भा० १ स्क० ८ अ० १० श्लोक)

छप्पय

कृष्णा करी कृतार्थ, पाण्डुनन्दन नृप कीन्हें।
सबकूँ सब समुझाइ द्वारका हरि चलि दीन्हें।।
इतनेमें अति दुखित उत्तरा आगे आई।
स्वर गद्गद् भयभीत, विपतिकी बात बताई।।
देव! देखिये दहकतो, आवे अस्त्र अमोघ है।
मारे मोकूँ किन्तु मम, गर्भ विभो! रक्षित रहै।।

अमोघ सङ्कल्प श्रीहरि के हृदय में जो भी सङ्कल्प उठता है वह अमोघ होता है। उसे कोई भी अन्यथा कर नहीं सकता। वह चाहते तो धर्मराज को

---

* ब्रह्मशास्त्र से विह्वल हुई उत्तरा भगवान से प्रार्थना करती है—"हे स्वामिन! देखिये, वह तपाये हुए लोहे के समान लाल बाण मेरी ही ओर आ रहा है। हे विभा! यह मुझे भले ही जला डाले, किन्तु नाथ! मेरे इस गर्भस्थ बालक की रक्षा आप कीजिये। यह किसी प्रकार इस अस्त्र से नष्ट न होने पावे।"

क्षणभर में वैसे ही सम्राट् बना सकते थे। उनकी शक्ति के सम्मुख धृतराष्ट्र के पुत्र तथा अन्य पृथ्वीपति कर ही क्या सकते थे। किन्तु श्रीकृष्ण चाहते थे—पाण्डव युद्ध करके—अपने बल-पौरुष से—प्रतिष्ठा सहित सम्राट् बनें। वे केवल इस सम्पूर्ण वसुन्धरा के एक छत्र शासक ही न होकर संसार में पूजित और प्रतिष्ठित भी हों। वही हुआ, कौरवों को मारकर पाण्डवों ने विजय श्री के सहित यह वन, कानन, सरिता, शैल आदि से संयुक्त सम्पूर्ण वसुन्धरा, अपने बाहुबल से प्राप्त की। कौरवों की पराजय तो तभी हो गयी थी, जब पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और महावीर कर्ण एक-एक करके मारे गये। किन्तु एक दिन शल्य के सेनापतित्व में भी युद्ध हुआ। तब तो पूरी ही पराजय हो गई। दुर्योधन युद्धक्षेत्र छोड़कर भाग खड़ा हुआ। जब भीम की गदा से वह भी घायल हो गया, तो एक बार फिर उसने अश्वत्थामा को नायक बनाकर, पाण्डवों के सर्वनाश का स्वप्न देखा। किन्तु 'जिसके रक्षक राम' उसको सभी करें परनाम'—वाली बात हुई। अश्वत्थामा ने सोते हुए सभी सैनिकों और वीरों का तो नाश कर दिया, किन्तु पाँचों पाण्डव फिर भी सकुशल बच गये। अब दोनों सेनाओं के दस आदमी ही शेष रहे, कृपाचार्य, कृतर्मा और अश्वत्थामा—ये तीन तो कौरवों की ओर और पाँचों पाण्डव, युयुत्सु और जनार्दन भगवान् वासुदेव—ये सात पाण्डवों की ओर के। नहीं तो १८ अक्षौहिणी सेना के सम्पूर्ण प्राणी मृत्यु के सदन में सिधार गये।

जैसे विवाह कर बेटी को बिदा करने पर बाप को निश्चिन्तता सहित शोक और व्याकुलता भी होती है, वैसी ही दशा पाण्डवों की भी हुई। द्रौपदी को साथ लेकर मरे हुए अपने पाँचों पुत्रों के सभी दाह संस्कार आदि कर्म किये। अब मरे हुए दोनों दल के वीरों की भी सुधि उन्हें ही लेनी पड़ी, क्योंकि दोनों वंशों में पानी देने वाला कोई रहा ही नहीं। राजा होने के कारण और अपने कुल में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण, धर्मराज का ही कर्तव्य हो गया कि सबका श्राद्ध तर्पण आदि पारलौकिक कर्म करें।

मङ्गल कार्यों में स्त्रियाँ पीछे-पीछे गाती हुई चलती है और मृतक कार्यों में वे रोती-रोती आगे चला करती है। धर्मराज ने अपने सभी बन्धु-बान्धवों की विधवा बहुओं को आगे किया, वे कुररी की तरह विलाप करती हुई पाण्डवों को कोसती जाती थीं। उनकी करुण-ध्वनि से आकाशमण्डल भर गया। सबको एक साथ रोते देखकर, धर्मराज का हृदय भर आया। वे सोचने लगे—"हाय! हमने राज्य के लिये कैसा पाप किया! इन स्त्रियों की अन्तरात्मा हमें शाप दे रही होगी, कैसे हमारा कल्याण होगा? यह सोचते-सोचते धर्मराज फूट-फूटकर रोने लगे। बहुत समझाने पर भी उनके आँसू न रुके।

भगवती भागीरथी जो अनादिकाल से मरे हुए जीवों को अपने में शरण देकर स्वर्ग में पहुँचाती है उनको जल पहुँचाकर तृप्त करती हैं, उन जगत् की एक मात्र शरण्य माँ के तट पर आकर रोते-रोते धर्मराज ने सभी का नाम लेकर उन्हें जलाञ्जलि दी। सुरसरि का शीतल सलिल धर्मराज के उष्ण अश्रुओं से गरम हो गया था। जिसका वे नाम लेकर जल देते, उसे ही याद करके रो पड़ते। समीप ही बैठे श्रीकृष्ण उन्हें भाँति-भाँति से समझा रहे थे, किन्तु उनका शोक कम ही न होता था। सबको जल देकर उन्होंने पुनः प्रभु के पादपद्मों के पराग के पावन हुए, पुण्यतोया भगवती भागीरथी के पापहारी जल में घुसकर नैमित्तिक स्नान किया।

महाराज युधिष्ठिर विलाप कर रहे थे। अन्धे धृतराष्ट्र अपनी भार्या गान्धारी के सहित—अपने सौ पुत्रों के नाम ले-लेकर करुण स्वर में रो रहे थे। द्रौपदी अपने बच्चों के लिये विलख रही थी। सब रानियाँ अपने-अपने पतियों के नाम ले-लेकर छाती पीट रही थीं। सर्वत्र हाहाकार मचा था। रुदन की वेदनापूर्ण ध्वनि से दिशायें विदिशायें गूँज रही थीं। पशु-पक्षी भी पेड़ों पर बैठे रो रहे थे। प्रकृति भी रोती हुई-सी दिखाई देती थी। भागवती भागीरथी का जल भी मानों कल-कल निनाद के द्वारा उनके रुदन में अपना सहानुभूति सूचक रुदन मिला रही थी। सबके रोने से गङ्गा के तट पर—वहाँ हस्तिनापुर के समीप

ही—गङ्गासागर का दृश्य उपस्थित हो गया था। लाखों अबलाओं, विधवाओं के शोकाश्रुओं से वहाँ मानों करुणा का सागर उमड़कर गङ्गा में मिल रहा हो। उस करुणापूर्ण दृश्य को देखकर श्रीकृष्ण ही व्यथित नहीं हुए थे, नहीं तो सब-के-सब फूट-फूटकर रो रहे थे। सहानुभूति सूचित करने के लिये बहुत-से ऋषि-मुनि जो कौरव कुल के सदा से हितैषी रहे, आ-आकर उस शोक-सभा में सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार सबकों समान रूप से दुखी देखकर दयासागर देवकीनन्दन धृतराष्ट्र और गान्धारी को लक्ष्य करके बोले, क्योंकि वे ही वहाँ सबसे बड़े थे।

"पुत्रों के लिये इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है। आपने तो वृद्धों की सेवा की है, सज्जन पुरुषों की सत्सङ्ग किया है। आप स्वयं सब शास्त्रों के ज्ञाता हैं, काल की गति को भी जानते हैं, फिर आपको यह शोक शोभा नहीं देता। शोक उनके लिये करना चाहिये, जो संसार में बिना कुछ—इहलोक, परलोक का-कार्य किये हुए कीट-पतङ्गों की तरह जन्म लेकर मर गये हों। जिन्होंने यश, ऐश्वर्य संसारी सुखों का भोग किया है, जिन्होंने परमार्थ साधन के लिये पुण्य और शुभ कर्म किये हैं, जिन्होंने संसार से चित्त हटाकर एकमात्र सर्वेश्वर की ही शरण ले ली है, ऐसे लोगों के लिये सोच करना उचित नहीं। शोचनीय तो वे हैं, जिन्होंने अपने लिये, बन्धु-बान्धवों के लिये, कुल-परिवार के लिये, देश-जाति के लिये, परोपकार के लिये या आत्मा के लिये कुछ न किया हो। तुम्हारे लड़के जब तक जिये सुख से जिये, महाराजाओं के महाराजा बनकर रहे। उन्होंने सभी संसारी सुखो का उपभोग किया। बड़े-बड़े यज्ञ किये, दान दिये, आश्रित को सन्तुष्ट किया और अन्त में रण में सम्मुख युद्ध करते-करते मरकर स्वर्ग चले गये। जब तक जिये, पृथ्वी पर राजा बनकर सबके शासक रहे, मरकर इन्द्र के साथ बैठने के अधिकारी बने। उनके लिये आप क्यों इतना विलाप करते हैं।"

रोते-रोते धृतराष्ट्र ने कहा—"वासुदेव! मैं उनकी मृत्यु के लिये नहीं

रोता। सोचता हूँ—वह भी दिन था कि इन बहुओं को आकाशचारी पक्षी भी नहीं देख पाते थे। आज एक यह भी दिन है कि ये सिर के बाल खोले विधवा बनकर अनाथिनी हुई विलख रही है।"

भगवान् बोले—"यह तो काल की गति है, दुःख-सुख किस पर नहीं आते, बन्धु-बान्धवों का वियोग किसे नहीं होता, जब पराजय का अनुभव किसे नहीं करना पड़ता? इन सब बातों के असंख्यों उदाहरण हैं। पूर्व के सभी राजाओं को इन सब द्वन्दों का अनुभव करना पड़ा है। दूर कहाँ जायँ मुझे ही देखिये। आप सब मेरा कितना आदर करते हैं। ये सब ऋषि-मुनि मुझे नारायण, पुरुषोत्तम, परब्रह्म, भगवान् न जाने क्या-क्या कहते हैं? मेरी ही दशा देखिये मेरे जन्म के पूर्व ही मेरे पूर्वज भाइयों को हमारे मामा कंस ने—रण में नहीं—पैदा होते ही पशु की तरह मार डाला। हमारे माता-पिता को कारागृह में बाँधकर डाल दिया। मेरे बचाने के लोभ से मेरे पिता ने छिपकर मुझे अहीरों के गोष्ठ में पहुँचाया। वहाँ हम जङ्गली गोपों में गौओं को चराते हुए रहे। क्षत्रिय होकर भी छिपकर रहे, फिर किसी तरह आकर अपने माता-पिता का मुँह देखा। इतने में ही जरासन्ध ने हमें तङ्ग कर डाला। एक दो बार नहीं अठारह बार उसने हम पर आक्रमण किया। अन्त में उसके बार-बार के दुःख देने से, हम अपनी पैतृक भूमि को त्यागकर भाग खड़े हुए और जल से घिरे समुद्र के बीच में आकर शरण ली। वहाँ भी जाति भाइयों में नाना प्रकार की कलह होने लगी। भाई ही परस्पर लड़ने लगे। बलरामजी मुझसे बड़े हैं, फिर भी बहुत-सी बातों में मेरा उनका मतभेद ही रहता है। इस युद्ध में वे कहते थे—तुम तटस्थ रहो। मैं क्षत्रिय होकर कैसे तटस्थ रह सकता था। मेरे दोनों ही पक्ष के सम्बन्धी थे, दोनों को ही मैंने सन्तुष्ट किया। तुम्हारे पुत्रों को अपनी सम्पूर्ण सेना उनकी याचना पर दी और तुम्हारे इस दूसरे पुत्र अर्जुन ने मुझसे अपना रथ ही हँकवाया। मुझे ही बताइये कब सुख मिला?"

धृतराष्ट्र ने आँसू पोंछते हुए कहा—"वासुदेव! सब आपकी ही लीला है।

आपको ऐसा ही करना था। आपकी समस्त चेष्टायें दुर्निवार हैं। ये पाण्डव भी मेरे उसी तरह बच्चे हैं। उन्होंने अपने पिता को भली-भाँति देखा नहीं, मुझे ही ये अपना पिता समझते हैं। मेरे बच्चे अपनी क्रूरता से ही मारे गये। अब ये पाण्डव भी उन सबके लिये रो रहे हैं, कुन्ती भी बिलख रही है। यह आँखें वाली होकर भी मेरे कारण अन्धी बनी हुई गान्धारी भी रो रही है। इन सबको रोते देखकर मेरा हृदय फटना चाहता है। हे सर्वज्ञ यदुनन्दन! आप इन सबको समझाइये। इनके शोक को मिटाइये।"

धृतराष्ट्र की बात सुनकर मुनियों सहित भगवान् ने सभी को भाँति-भाँति से समझाया। सभी को जगत् की अनित्यता बताई। जन्मधारी प्राणी की मृत्यु अवश्यम्भावी बताकर, काल की गति का ज्ञान कराया। इस प्रकार सभी को समझा-बुझाकर, सबकोसाथ लिये वासुदेव हस्तिनापुर में आये। युधिष्ठिर महाराज सिंहासन पर बैठना ही नहीं चाहते थे। उन्हें विविध प्रकार से समझाकर सिंहासन पर बिठाया। गये हुए राजा युधिष्ठिर के राज्य को धूर्तों के हाथ से बलपूर्वक छीनकर फिर से उसका अधिकारी धर्मराज को बनाया। जिन दुष्टों ने भरी सभा में सती द्रौपदी के कुटिल काले केशों को खींचा था, उन्हें अपनी करनी का फल चखाकर चारुहासिनी द्रौपदी को कृतार्थ किया। धर्मराज के यश को बढ़ाने के लिये, विजय के उपलक्ष में बड़े-बड़े यज्ञ पाश हुए। तीन अश्वमेध यज्ञ कराये, जिनसे उनकी कीर्ति दिगन्तों तक छा गई। इस प्रकार पाण्डवों के सभी कार्य करके सभी की भली-भाँति व्यवस्था करके फिर वासुदेव बोले—"धर्मराज! भाई अब अपना राज्य सम्हालो। मुझे अपने भी तो काम धन्धे करने हैं। द्वारकापुरी से आये बहुत दिन हो गये। वहाँ का कुछ समाचार नहीं मिला, सभी लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, व्याकुल हो रहे होंगे। मुझे जाने की अनुमति दीजिये। फिर जब आप बुलावेंगे, मैं तुरन्त आ उपस्थित होऊँगा। मैं तो आपका सेवक ही ठहरा।"

जाने का नाम सुनकर सभी के प्राण सूख गये। वासुदेव अब चले

जायँगे—यह स्मरण आते ही सबके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। मधुसूदन को मना करने की सामर्थ्य किसमें थी। उन्होंने सारथि को रथ सजाने की आज्ञा दी। व्यासजी आदि विप्रों को प्रणाम किया, उनकी प्रदक्षिणा की, सभी ने साश्रु नेत्रों से, रुँधे कण्ठ से उनकी पूजा की। सारथि ने रथ लाकर द्वार पर खड़ा कर दिया। सर्वत्र सन्नाटा छा गया। प्रेम के वेग से सबके कण्ठ रुक जाने से किसी की वाणी निकलती ही नहीं थी। उस प्रेम शोकपूर्ण शान्ति को भङ्ग करती हुई, अत्यन्त करुण स्वर में रुदन करती हुई, अपने भाञ्जे की बहू उत्तरा को वेग से आते हुए उन्होंने अपने रथ के सम्मुख देखा। यह बहू आज बिना परदे के, इस प्रकार रोती चिल्लाती क्यों आ रही है—यह सोचकर भगवान् आश्चर्य से चकित हो गये। इतने में ही उत्तरा अत्यन्त समीप आकर बिलखती हुई बोली—

"हे स्वामिन्! हे प्रभो! रक्ष करो रक्षा करो।"

भगवान् ने विस्मय के साथ पूछा—"बेटी! तू ऐसी क्यों घबरा रही है? क्या बात है! बात तो बता!"

भय से थर-थर काँपती हुई उत्तरा बोली—"हे अशरणशरण! आप यह सामने देखें। अग्नि में तपे लोहे के समान यह वाण, मेरे पेट को लक्ष्य करके ही बड़े वेग से मेरी ही ओर आ रहा है। हे भक्त-भयहारी भगवन्! मुझे अपने लिये चिन्ता नहीं। मेरा तो सुहाग लुट गया। मुझे जीने की इच्छा नहीं है। मैं तो अभी अपने प्राणनाथ के साथ अग्नि में भस्म हो जाती। किन्तु थाती मेरी कोख में रखी है। भरत वंश के बीज लोभ से ही मैं जी रही हूँ। कुरुकुल को पानी देने वाले मांस पिण्ड ने ही मुझे मरने से रोक रखा। इस दशा में मैं मरकर अपने प्राणनाथ के पास स्वर्ग में जाऊँ, तो वे मुझसे असन्तुष्ट होंगे और कहेंगे—"तूने मेरी धरोहर को क्यों नष्ट कर दिया?" सो हें दीनबन्धो! मुझे यह बाण चाहे मार दे। किन्तु मेरे इस गर्भस्थ बालक की आप रक्षा करें। इसे किसी तरह इस विपत्ति से बचावें।"

उत्तरा के ऐसे आर्त वचन सुनकर भगवान् ने ध्यान से देखा। वे समझ

गये—"अरे, यह तो उस ब्राह्मणाधम का काम है। प्रतिहिंसा की अग्नि से जले हुए अश्वत्थामा ने पाण्डव कुल को समूल नष्ट करने के लिये छः बाण छोड़े हैं। मन्त्र से अभिमन्त्रित पाँच बाण तो पाँचों पाण्डवों की ओर आ रहे हैं और छठा उत्तरा के गर्भ के बालक का पेट में ही नाश करने को आ रहा है।"

भगवान यह सोच ही रहे थे कि अपनी ओर अस्त्रों को आते देख—भयभीत होकर पाण्डवों ने भी अपने-अपने अस्त्र उठा लिये किन्तु ये अमोघ

अस्त्र अन्य अस्त्रों से शान्त होने वाले नहीं थे। पाण्डवों ने अस्त्रों का सहारा छोड़कर श्यामसुन्दर का ही सहारा लिया। भगवान् तो भक्तों के अधीन ही रहते हैं। उन्होंने अपना त्रैलोक्य पूजित सुदर्शन चक्र उठाकर उन आते हुए अस्त्रों को काटकर फेंक दिया। फिर सोचने लगे—उत्तरा के गर्भ की तो मुझे रक्षा करनी है। वे उत्तरा को सान्त्वना देते हुए बोले—"बेटी! तू घबड़ावे मत। तेरे गर्भ का कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकता। तू निश्चिन्त रह। तेरे गर्भ की रक्षा मेरे ऊपर है। धर्मराज के वंश का, जब मैं रक्षक हूँ तो विनाश करने की शक्ति किसमें है?"

इतना कहकर भगवान् ने अपनी योगमाया से उत्तरा के गर्भ को ढक लिया और स्वयं अपने एक तेजस्वी रूप से, गदा को घुमाते हुए गर्भ में रहकर स्वयं उसकी रक्षा करने लगे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ब्रह्मास्त्र तो अमोघ होता है, वह तो किसी भी अस्त्र से शान्त नहीं हो सकता। वह तो ब तक जिसको लक्ष्य करके छोड़ा जाय उसे मार न दे, तब तक लौटता नहीं, फिर वह कैसे व्यर्थ हो गया?"

सूतजी बोले—"शौनकजी! यद्यपि यह ठीक है कि ब्रह्मास्त्र अमोघ है, किन्तु ब्रह्माजी के अस्त्र से उनके बाप का अस्त्र तो और अमोघ है। जैसे अग्नि सबको भस्म कर सकती है, किन्तु जल के सामने आते ही शान्त हो जाती है। क्षत्रिय सबका संहार कर सकता है, किन्तु स्वधर्म निष्ठ ब्राह्मण के सम्मुख उसका तेज कुण्ठित हो जाता है। उसी प्रकार वैष्णव तेज—सुदर्शन—के सामने ब्रह्मास्त्र निर्वीय हो गया। शौनकजी! आप इसमें आश्चर्य न करें, क्योंकि आश्चर्यों के समुद्र अच्युत से ही सबकी उत्पत्ति है। बाजीगर की माया से और लोग ही मोहित हो जाते हैं, किन्तु जो उसके रहस्य को समझता है, उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं होता। इस माया के पति तो श्यामसुन्दर ही हैं। उनके ईक्षण मात्र से ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सम्भव है। फिर उनके लिये ब्रह्मास्त्र को व्यर्थ बना देना कौन-सी विशेषता की बात है।

इस प्रकार भगवान् ने अपने आश्रित पाण्डवों की सब प्रकार से रक्षा की। जैसे, मादा पक्षी अपने अण्डों को हृदय में लगाकर सोती है, इसी प्रकार पाण्डवों की पग-पग पर प्रभु सम्हाल करते रहे। जहाँ जैसा अवसर देखा, वहाँ वैसे ही बन गये। न मान का ध्यान रखा, न अपमान का। भगवान् ने यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि जो सर्व आश्रय छोड़कर एकमात्र मेरा ही आश्रय लेते हैं, उनके लिये मैं सब कुछ करने को, सब कुछ बनने को, सदा सर्वदा प्रस्तुत रहता हूँ।

छप्पय

अश्वत्थामा कुपित क्रोध करि सर छै छोड़े।
आवत देखे चक्र सुदर्शनसे हरि तोड़े।।
दुर्योधन दल दल्यो दुसह दारुण दुःख दीन्हें।
करी उत्तरा अभय पाण्डु-सुत निर्भय कीन्हें।।
पलमें जो जगकू रचैं, करें निनिषमें नाश हैं।
दुष्ट दलन भक्तनि भरन, में तिनि कवन प्रयास है।।

कुन्ती की स्तुति

(३०)

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन् नमस्ते।।*

(श्री० भा० १ स्क० ८ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

चले द्वारिकाधीश पृथा पुनि आगे आई।
भातृ पुत्रवूँ पकरि प्रेमतें विनय सुनाई।।
प्रभो पुत्र परिवार सहित सब भाँति उबारी।
किन्तु यह है एक अन्तमें भीख हमारी।
विपति वारि वारिद भरे, बार-बार बरसा करें।
दर्शन देवें दया वश, छत्र छाँह करि भय हरें।।

---

* कुन्तीदेवी भगवान् की स्तुति करती है—"हे कृष्ण! हे अर्जुन के सखा! हे कृष्णवंशावतंस! हे अवनि के भार भूत भूपतियों को भस्म करने के लिये अनल स्वरूप! हे अक्षय वीर्य! हे गोविन्द! हे गो ब्राह्मण और देवताओं के दुःख को दूर करने लिये अवनि पर अवतार धारण करने वाले अवतारी! हे योगेश्वर! हे अखिल जगत् के गुरो! भगवन् आपको नमस्कार है।"

जो अपने प्राणों के समान प्यारे हैं, यदि सौभाग्य से उनके सहवास का सुख प्राप्त हो जाय—क्योंकि दो प्रेमी चिरकाल तक प्रायः साथ रह नहीं सकते—यदि कारण विशेष से बहुत दिन तक वे हममें घुल-मिलकर रह जायँ और फिर वे हमसे बिछुड़ने लगें तो हृदय में एक मीठी-मीठी वेदना होने लगती है, अन्तःकरण में असह्य पीड़ा होती है, चित्त चाहता है, किसी भाँति ये रुक जाँय। आज न जाँय, कल फिर यही दशा होती है। प्रेम में तृप्ति नहीं, स्नेह में सन्तोष नहीं। वासुदेव अब सबसे विदा होकर चलने लगे। उत्तरा को अभय देकर, पाण्डवों को सङ्कट से छुड़ाकर, अब उन्हें द्वारिका की याद आई। विप्रों ने उनका स्वस्त्ययन किया, अब उन्हें द्वारिका की याद आई। विप्रों ने उनका स्वस्त्ययन किया, उन्होंने सबको अभिवादन किया और वे रथ पर आकर बैठ गये। इतने में ही निज निवास से निकल कर, दासियों सहित महारानी कुन्ती ने आकर, श्रीकृष्ण के रथ को रोक लिया। अपनी बड़ी बुआ को खड़ी देखकर श्यामसुन्दर शीघ्रता के साथ रथ से उतर पड़े। महारानी और आगे बढ़ी और आँखों में आँसू भरकर श्रीकृष्ण का पल्ला पकड़कर बोलीं—"वासुदेव! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ।"

लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए देवकीनन्दन बोले—बुआजी! यह आप कैसी उलटी गङ्गा बहा रही हैं। आप मेरे पिता की पूजनीय हैं। मेरी बड़ी बुआ हैं। नमस्कार आपके चरणों में मुझे करना चाहिये कि आपको? आप ही मुझ बालक पर अपराध चढ़ा रही हैं।"

रुँधे हुए कण्ठ से कुन्तीजी ने कहा—"आप सामान्य पुरुष नहीं हैं, प्रभो! कौन आपकी बहिन, कौन बुआ? आप तो प्रकृति से परे अनादि, ईश्वर और अधोक्षज हैं। समस्त प्राणियों के भीतर बाहर समान रूप से स्थित हैं। किन्तु किसी को दिखाई नहीं देते। हाँ निर्मल चित्त वाले महामुनि परमहंस भक्ति-योग के द्वारा हृदय मन्दिर में आपका साक्षात्कार करते हैं। आप माया रूपी जवनिका से आच्छादित हैं। आपने घूँघट मारकर अपना चन्द्रमुख छिपा लिया है। उसे निर्मल, शुद्ध, माया मोह से रहित, भगवत् भक्त ही देख सकते हैं। माया के

पाश से आबद्ध, हमारी जैसी अज्ञ स्त्रियाँ भला आपके रहस्य को कैसे जान सकती हैं?"

भगवान् बोले—"बुआजी! आप क्या कर रही हैं? मैं तो वही आपके भाई वसुदेव का पुत्र कृष्ण हूँ।"

कुन्तीजी बोलीं—"जनार्दन! आज मुझे कह लेने दो। आप मुझे अपने आन्तरिक भावों को प्रकट कर लेने दो। तुम वसुदेव देवकी के पुत्र वे कृष्ण नहीं हो, किन्तु सर्वत्र, सब में वास करने वाले, भक्तों को अपने सौन्दर्य माधुर्य से अपनी ओर खींचने वाले इन्द्रियों से अतीत परब्रह्म हो। इतना सब होने पर भी आप नन्दनन्दन हो, गोपीजनबल्लभ हो, आपकी नाभिकमल से ही चतुरानन ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं। आप यह जो विकसित कमनीय कमलों की अद्‌भुत माला धारण किये हुए हैं, इससे आपकी शोभा और भी अतुलनीय हो गई है। कमल के समान खिले हुए, बड़े-बड़े नेत्र कमल के चिह्नों से चिह्नित, चिकने और अरुणवर्ण के ये आपके परमपावन पादपद्म मेरे मन मन्दिर में सदा निवास करते रहें। हे अच्युत! मेरे प्रणाम को स्वीकार करो।"

भगवान् हँसे और बोले—"बुआजी! आज आपको क्या हो गया है? क्यों आप ये आप बेसुरे गीत गा रही हैं?"

यह सुनकर कुन्ती रो पड़ी और रोते-रोते बोली—"वासुदेव आज मुझे रोको मत, आज मुझे कह लेने दो। मैं तुम्हारी अहैतुकी कृपा के बोझ से बहुत अधिक बोझीली हो गई हूँ। अनेक अहैतुक उपकारों के भार ने मुझे आभारी बना दिया है। जैसी दया आपने मेरे ऊपर की है वैसी दया तो आपने अपनी सगी माता के ऊपर भी नहीं की। अपनी माता देवकी को तो आपने सीमित कारागार की सीमा से ही बाहर किया, किन्तु मुझे तो इस असीम संसार के बन्धन से सदा के लिये मुक्त कर दिया। हे ऋषिकेश! भाभी देवकी को तो आपने अकेले ही उबारा, उसके पुत्र तो दुष्ट पापी कंस के द्वारा मारे ही ही गये, किन्तु मुझे तो आपने दुष्ट दुर्योधन के दारुण दुःखों से पाँचों पुत्रों सहित उबारा

है। हमारी सभी विपत्तियों में आप स्वयं आकर सम्मिलित हुए, हमारे छोट-से-छोटे और बडे-से-बड़े सभी कार्य अपने हाथों किये, क्या मुँह लेकर हम आपकी प्रशंसा करें? किन शब्दों में आपकी कृतज्ञता प्रगट करें? एक उपकार हो तो उनका कथन भी किया जाय। हमारी तो पग-पग पर प्रभो! आपने रक्षा की। दुष्ट दुर्योधन ने भीम को भोजन में विष देकर मार डालना चाहा किन्तु आपने कृपा करके मारने के स्थान में उसे और अधिक बलवान् बना दिया। चाण्डाल चौकड़ी ने मिलकर लाक्षागृह में पुत्रों सहित हमें जला डालने के षड्यन्त्र रचे, किन्तु उससे भी, हे बाँके-बिहारी! आपने बाल-बाल बचा लिया। इतना ही नहीं, उसी विपत्ति के समय अयोनिजा त्रैलोक्य सुन्दरी द्रौपदी को भी मेरे पुत्रों की पत्नी बनाया। हिडम्ब, एकचक्रा नगरी का राक्षस आदि बड़े-बड़े दुष्ट राक्षसों ने पाण्डव पर आक्रमण किये, किन्तु आपकी कृपा से वे स्वयं ही मारे गये। द्यूत की सभा में पतिव्रता द्रौपदी की लाज आपके सिवाय हे स्वामिन्! कौन बचा सकता था? बनवास की विपत्ति में राज्यभ्रष्ट पाण्डवों की रक्षा करने की आपके सिवाय, किसमें सामर्थ्य थी? अपने विशाल अस्त्रों और प्रबल-पराक्रम से त्रैलोक्य में कहीं भी अपने को गुप्त न रख सकने वाले मेरे पुत्र साल भर तक विराट् नगरी में आपके अनुग्रह से तो छिपे रहे। अच्छा, ये सब विपत्तियाँ तो ऐसी थीं, जिनसे भविष्य में मृत्यु की शङ्का थी किन्तु रण में तो क्षण-क्षण में मृत्यु उपस्थित थी। एक बाण में त्रैलोक्य की विध्वंस करने वाले भीष्म, द्रोण, कर्ण के वाणों को देवता भी सहन करने में समर्थ नहीं। संग्राम में सामने आये हुए यमराज को भी जो नाश कर सकते थे, उन महारथियों के महाअस्त्रों से आपने रथवान् बनकर, सारथि होकर मेरे पुत्रों की रक्षा की। उन्हें काल के गाल से सकुशल निकालकर महिपालों का भी महिपाल बनाया। युद्ध के अनन्तर भी आज यह तो मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से ही देखा कि गुरु पुत्र अश्वत्थामा द्वारा चलाये हुए ब्रह्मास्त्र से—जो कभी भी व्यर्थ न होने वाला अस्त्र है—सब को बात-की-बात में बचा लिया। अव्यर्थ अस्त्र को भी व्यर्थ बना दिया। किसी से न कटने वाले अभिमन्त्रित अनुपम

वाण को, सुदर्शन चक्र से काटकर फेंक दिया। इसलिये अब मैं कहाँ तक आपके उपकारों को गिनाऊँ? कहाँ तक आपके गुण गाऊँ? कहाँ तक आपकी अहैतुकी कृपा का वर्णन करूँ? अब मेरी आपसे एक अन्तिम प्रार्थना है। मैं आपसे एक वरदान चाहती हूँ, यदि आप देने का वचन दें, तो मैं मागूँ।"

भगवान् बात को टालने की दृष्टि से सकुचाते हुए बोले—"बुआजी! कैसी बात कर रही हैं आप? मेरा सर्वस्व आपका है। मेरे रोम-रोम आपके काम आवे तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा। मेरे चाम से आपका कोई काम निकले तो अभी इसी समय इसी खड्ग से अपने आप अपना चर्म उधेड़कर दे सकता हूँ। आप ऐसा सङ्कोच न करें, जो आप माँगेगी मैं वही दूँगा।"

रोती हुई कुन्ती ने सिसकियाँ भरते हुए कहा—"लालजी! क्यों मुझे लज्जित करते हो? क्यों मुझ भार से दबी हुई को और अधिक दबाते हो? करुणासिन्धो! तुम्हारा ही तो सहारा है। तुम कृपा न करते, तो आज हम कहीं की भी न रहती। आपको जो करना था, सब किया। अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं अब तुम्हारे सामने पल्ला पसारकर यही भीख माँगती हूँ कि हम पर सदा ही इसी प्रकार इससे भी अधिक विपत्तियां आती रहें। यही मेरा अन्तिम वरदान है, इसी को हे दयालो! जाते समय मुझे देते जाओ।"

भगवान् आश्चर्य चकित होकर कुन्तीजी की ओर देखने लगे और अत्यन्त विस्मय के स्वर में कहने लगे—"बुआजी! बुआजी!! आपका चित्त ठीक है न, आप यह क्या वरदान माँग रही हैं? जान बूझकर मुझसे फिर उन्हीं विपत्तियों की याचना करती है जिनके कारण आपको इतना क्लेश हुआ और जिन्हें निवारण करने को मुझे बार-बार द्वारका से दौड़ना पड़ा। आप उच्च-से-उच्च कुल में जन्म की याचना करें, अतुल एश्वर्य का वरदान माँगे, समस्त संशयों का उच्छेदन करने वाली विद्या माँगे, जो लक्ष्मी चञ्चला और चपला कहकर प्रसिद्ध है, वह आपके यहाँ सौम्या, स्थिर और अचला बनकर निवास करे—इसके लिये प्रार्थना करें, तब तो ठीक भी है, विपत्ति आप क्यों

माँग रही हैं?''

कुन्तीजी बोलीं—''वासुदेव! मुझे अब अधिक मत बहकाओ। मैं तुम्हारे प्रभाव को तुम्हारी ही कृपा से समझने लगी हूँ। हम पर विपत्तियाँ न आतीं तो आप हमारे समीप क्यों आते। सम्पत्ति में हम आपको क्यों याद करते। उसी के मद में मदान्ध होकर स्वत: आये हुए भी आपका अपमान ही करते। विपत्तियों ने ही तो हमें आपके दर्शन कराये, जिन दर्शनों को करने पर भी फिर कभी संसार के दर्शन नहीं होते। हम उन अनित्य, क्षणभंगुर, तुच्छ, नाशवान् सुखों को लेकर क्या करेंगे जो हमें आप से अलग कर दें। हम उन विपत्तियों का हृदय से स्वागत करते हैं, जो बार-बार आपके दर्शनों का अवसर देती हैं। हे दयासागर! विपत्तियों ने ही हमें आपकी शरण में जाना सिखाया है। आप ही एकमात्र दु:ख दूर कर्ता हैं, यह बात विपत्तियों ने ही तो हमें बताई है। उन्हें छोड़कर फिर हम सम्पत्ति की चाह क्यों करें? जो हमें आप से मिलाती है, आपका कृपापात्र बनाती हैं, वे विपत्ति ही हमारे लिये सम्पत्ति के समान हैं और जो सम्पत्ति आपसे दूर हटाती है वह हमारे लिये घोर विपत्ति है। अब रही सत्कुल में जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और लक्ष्मी की बात। सो प्रभो! ये तो मादक वस्तुएँ हैं। इनके मद में मत्त हुआ प्राणी संसार में सभी का अपमान करता है। किसी को अपने समान नहीं समझता, सभी का तिरस्कार करता है। वह सबके सामने तुम्हारे सुमधुर नामों का निर्जज्ज होकर कीर्तन कैसे कर सकता है और बिना सङ्कीर्तन के बिना, उच्च स्वर के पुकारे आप आते नहीं। अत: आपको भुलाने वाले धन, वैभव, विद्या आदि हमें नहीं चाहिये।

जिसे अपने धन का, गुणों का अभिमान है, उनके समीप आप जाते ही नहीं। आपको यदि ऐश्वर्य ही प्रिय होता, वैभव से ही आप प्रसन्न होते, तो आप दुर्योधन की सुन्दर स्वादिष्ट सामग्रियों को छोड़कर विदुर के घर शाक खाने क्यों जाते? इससे पता चलता है आप अकिञ्चन प्रिय हैं, दीनों के नाथ हैं, निर्धनों के धन हैं,कङ्गालों की सम्पत्ति हैं। आपको ऐश्वर्य की, गुणों की सजी

हुई सामग्रियों की क्या अपेक्षा होगी। आप तो स्वयं माया प्रपञ्च से रहित, अपने आप में ही रमण करने वाले, शान्त स्वरूप तथा मोक्ष के भी स्वामी हैं। दुर्योधनादि दुष्टों ने आपको पकड़ना चाहा, किन्तु आप तो काल के भी काल हैं, नियम के भी नियन्ता हैं। आदि अन्त से रहित और सबमें समान रूप से विचरण करने वाले हैं। आपके लिये न कोई प्रिय है न अप्रिय। आपकी दृष्टि में सभी एक से हैं। सभी पर समान कृपा दृष्टि रखते हैं।"

भगवान् हँसे और बोले—"बुआजी! ऐसी झूठी बातें क्यों कर रही हैं। कौरवों की अपेक्षा पाण्डव मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। पाण्डवों के सम्बन्ध से मैं कौरवों से द्वेष करता था। जो पाण्डवों के प्यारे हैं, उनसे प्रेम का बर्ताव करता हूँ। फिर तुम मुझे समदर्शी क्यों कह रही हो?"

कुन्तीजी बोलीं—"लालाजी! अब तुम नहीं छिप सकते। भला आप किससे द्वेष कर सकते हैं और किससे प्रेम करते हैं। प्राणी अपनी दृष्टि के ही अनुसार आपमें गुण दोषों का आरोप करते हैं। विषम दृष्टि वालों को आप विषम से प्रतीत होते हैं, समदृष्टि वालों को सम। जैसे आँखों में लाल, पीला, हरा, नीला जैसा भी काँच लगाकर देखेंगे, आकाश उसी रङ्ग का प्रतीत होगा। वास्तव में आकाश में ये कोई भी रङ्ग नहीं, वह तो निर्लेप है। इसी तरह आप प्रियता-अप्रियता से पृथक्, विषमता से रहित, निर्विकार, निर्लेप हैं। फिर भी लोग आपमें शत्रुता, मित्रता का आरोप करते ही हैं। आप ऐसे-ऐसे कार्य करते हैं कि देखने वाले आपको साधारण मनुष्य समझकर मोहित हो जाते हैं। वे समझ ही नहीं सकते कि आपकी इस क्रीड़ा का रहस्य क्या है।

वैसे तो अजन्मा होने पर भी आपने जलचर, नभचर, देव, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक यहाँ तक की परम निन्दित शूकर योनि तक में अवतार धारण करके अद्‌भुत-अद्‌भुत क्रीड़ायें की, किन्तु इस कृष्णावतार में तो आपने सभी को माया मोहित कर दिया। अपने अतुत ऐश्वर्य को छिपाकर भक्तवत्सलता के पीछे आपने अपने महत्व को एकदम भुला ही दिया।"

भगवान् बोले—"बुआजी! अब अधिक मुझे आकाश में मत चढ़ाओ। मेरा ऐश्वर्य पराक्रम सभी जानते हैं। जरासन्ध के डर से डरकर, अपनी परम पावन पैतृक राजधानी को छोड़कर, हम अपने परिवार सहित छिपकर समुद्र के बीच में रहते हैं। यह डरपोकना जगत् प्रसिद्ध है।"

कुन्तीजी कुछ हँसी और फिर प्रेम भरी वाणी में बोलीं—"लालजी! डरना कुछ आपके लिये नई बात नहीं है। डरपोक तो आप जन्म के ही हैं। कंस के डर से डरकर आप मथुरा के कारावास से गोकुल ग्वालवालों के बीच में आये और वहाँ आकर भी आपने ऐसा अपना डरपोकपना दिखाया की उसकी स्मृति मात्र से ही मेरे रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। हाय! कैसी आपकी बाल बिडम्बना है, वहाँ आपने अपना अतुल ऐश्वर्य छिपाकर कैसी भक्त वत्सलता दिखायी है। मैं आपकी सब लीलाओं को भूल सकती हूँ, किन्तु वह लीला मुझे कभी नहीं भूलेगी। वह सदा मेरे नेत्रों के सामने नाचती ही रहती है, गोकुल में की हुई माखन की चोरी की वह लीला।

तुमने माता यशोदा का बड़ा भारी अपराध किया था। युगादि पुराना—सास-ससुर के सामने का उसका दही बिलोने का माँट तुमने लोढ़ा मारकर फट से फोड़ डाला। इस पर वह कुपित हुई और हाथ में छड़ी लेकर रस्सी से तुम्हें बाँधने दौड़ीं। हे दामोदर! तुमने कैसी चेष्टा बनाई! कैसी लीला दिखाई। डर भी जिसके डर से डरकर रोने लगे। बड़े-बड़े ऋषि भी घोर तप करके जिनसे मुक्ति की याचना करते हैं, ऐसे आप माँ से हा-हा खाकर मुक्ति याचना करने लगे। उन कमल के समान विकसित बड़े-बड़े नेत्रों में, जिनमें यशोदा ने रात्रि स्नेह वश बहुत-सा काजल लगा दिया था, उन्हींकमल-कोषा से ओस के समान अश्रु-बिन्दु बरसा कर माँ के हृदय में दया का सञ्चार करने का ढोंग रचने लगे। कैसी वह आपकी अद्‌भुत लीला थी। उस समय आप एकदम सम्पूर्ण जगत् को भुलाने के लिये भोले-भोले बालक बन गये। भय से भयभीत होकर मुँह नीचा करके सीधे शिशु की तरह खड़ी हुई तुम्हारी वह

मनमोहिनी मूरति, मेरी आँखों में नाचती हुई अब भी मेरे मन को मोहित-सी बना रही है। सोचती हूँ क्या यही अखिल भुवन के एकमात्र स्वामी मेरे सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं?

आपके अवतार का प्रयोजन क्या है, इसे आपके सिवा कोई जान नहीं सकता। सब अपना-अपना अधूरा अनुमान लगाते हैं। कोई तो कहते आपका अद्‌भुत अवतार युधिष्ठिर की कीर्ति को बढ़ाने के लिये हुआ है। कोई कहते हैं आप यदुवंश को अलंकृत करने के लिये—उसकी सुन्दर सुखद सुरभि दिग्दिगन्त में फैलाने के लिये—उसी प्रकार प्रकट हुए हैं, जैसे मलयाचल पर्वत पर चन्दन उत्पन्न होता है। कोई कहते हैं, पूर्व जन्म में वसुदेव और देवकी ने सुतपा और पृश्नि रूप से तपस्या करके आपसे पुत्र होने का वरदान प्राप्त किया था। उसी वरदान को पूर्ण करने के निमित्त आप अवनि पर अवतरित हुए हैं। कोई-कोई कहते हैं कि आप धर्म की संस्थापना करने के निमित्त, अधर्म को दूर करने के लिये, साधुओं को सुख देने के लिये और दैत्यों का नाश करने के लिये, सदा ही युग-युग में जैसे अवतार धारण करते हैं, वैसे ही यह भी अवतार लिया है। किन्हीं-किन्हीं का मत है कि वह वसुन्धरा दैत्यों के पाप भार से भारी होकर नौका के समान समुद्र में डूबना ही चाहती थी, उसी के उद्धार के निमित्त चतुर नाविक के समान प्रकट होकर उसे उबारने को अजन्मा होकर भी आप उत्पन्न हुए हैं।"

भगवान् हँसकर बोले—"बुआजी! सबका मत तो आपने बताया, किन्तु आपका क्या मत है? इनमें से आप प्रकट होने का कौन-सा प्रयोजन समझती हैं?"

कुन्तीजी बोलीं—"लालजी! मेरा मत तो इन सबसे भिन्न ही हैं। ये आपके रास्ता चलते हुए तिनका छूने के समान कारण हो सकते हैं। आपके अवतार का मुख्य कारण मैंने यही समझा है कि एकमात्र अपने भक्तों को सुखी करने के निमित्त उन्हें संसारी अविद्या, कामना और कर्म बन्धनों से बचाने

के निमित्त ही आपकी यह लीला है।"

भगवान् बोले—"इससे और कर्मबन्धन मुक्ति से क्या सम्बन्ध? कर्मों से तो बन्धन होता है। इन संसारी चेष्टाओं के स्मरण से तो संसार बन्धन और दृढ़ होता है?"

कुन्तीजी बोलीं—"वासुदेव! आपकी चेष्टायें संसारी नहीं अलौकिक हैं। आपके चारु चरित्र कर्म नहीं, कर्मों के काटने की छेनी है। आपकी ललित लीलायें लोगों के अशुभों को ढ़ेर करने वाली हैं। जो लोग आपकी लीला को बार-बार श्रद्धा सहित श्रवण करते हैं, जो गुणी लोग ललित गीतों द्वारा तान मूर्छालय के सहित गुण गान करते हैं, जो सत्पुरुष स्त्रोतों द्वारा आपकी लीलाओं का, गुणों का, स्तवन करते हैं, जो आपके दिव्य कर्मों का स्मरण करते हैं, उन्हें आपके पादपद्मों के देव दुर्लभ दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होता है, जिनके दर्शन करने से संसार का आवागमन छूट जाता है।"

भगवान् बोले—"बुआजी! आपने आज तो मुझे बहुत बढ़ा चढा दिया। आपका अभिप्राय क्या है?"

कुन्तीजी बोलीं—"मेरा अभिप्राय क्या है, सभी जीवों का एकमात्र यही अभिप्राय है कि आपके चरणों का दर्शन करता रहे। देखो तुम द्वारका जा रहे हो न! आज अपशकुन हो गया। यात्रा के समय केश खोले, भयभीत स्त्री और विशेषकर विधवा सामने आ जाय तो उस दिन की यात्रा स्थगित कर देनी चाहिये। आज मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी।"

भगवान् बोले—"देखो बुआजी! वहाँ भी बहुत से कार्य हैं। ये शकुन अशकुन तो लगे ही रहते हैं। सदा मैं थोड़े ही रह सकता हूँ! एक दिन तो जाना ही होगा, आज न सही कल वियोग का दुःख तो सहना ही है। मैं फिर आता ही रहूँगा। जब भी आपका सन्देश पहुँचेगा, तत्क्षण मैं उपस्थित हो जाऊँगा।"

कुन्तीजी बोलीं—"हाय! वासुदेव आप सचमुच हमें छोड़ जायँगे क्या? हे भक्तवत्सल! हमारा और सहारा कौन है? हमारे तो सम्बन्धी, सुहृद्,

स्वामी, सर्वस्व आप ही हैं। आज पृथ्वी भर के सभी राजा हमारे बैनी बन गये हैं। युद्ध में हमने उनके बन्धु बान्धवों का वध किया है। बस एक मात्र आपके चरण कमलों का ही भरोसा है। उन्हीं के आश्रय में हम जी सकते हैं। नहीं तो आज जगत् हमारे विरुद्ध हो रहा है, आपके बिना हमारी इस राजधानी की शोभा ही क्या है। जैसे पति के बिना पतिव्रता की शोभा नहीं, जैसे इन्द्रियों के रहते हुए भी यदि शरीर में से प्राण निकल जायँ, तो वह शरीर किसी काम का नहीं रहता, उसी प्रकार पाण्डवों और यादवों की सत्ता आपके बिना रह ही क्या जायगी। इस पृथ्वी की एकमात्र शोभा विलक्षण-लक्षणों से युक्त आपके चरणारविन्द ही हैं। जैसे चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं, जल के बिना नदी की शोभा नहीं, कमलों के बिना सर की शोभा नहीं, पङ्खों के बिना पक्षियों की शोभा नहीं, सिन्दूर के बिना सुहागिनी की शोभा नहीं, उसी प्रकार आपके चरणों के बिना इस हरी-भरी सुपक्व औषधि, लता, वृक्षों से सम्पन्न, सब प्रकार के समृद्धि युक्त, वन, पर्वत, नदी और समुद्र सहित पृथ्वी की शोभा नहीं, इन सबकी अभिवृद्धि आपकी दया दृष्टि से ही हो रही है। आप हमें छोड़कर जायँ नहीं। आपके बिना हमारे प्राणों की रक्षा कौन करेगा?"

भगवान् बोले—"बुआजी! यह तो आप सब मोह ममता के वशीभूत होकर कर रही हैं कि ये मेरे पुत्र हैं, पौत्र हैं, ये मेरे भाई के पुत्र हैं, पौत्र हैं। इन पाण्डवों और यादवों में आपका अत्यधिक मोह है।"

कुन्तीजी बोलीं—"हे वासुदेव! यदि मेरा मोह ही है, तो उसे छुड़ाने वाले भी तो तुम्हीं हो, तुम्हें छोड़कर इस मोह ममता को कौन काट सकता है? कौन इस दृढ़ बन्धन को शिथिल करने में समर्थ है? हे विश्वम्भर! हे विश्वत्मन्! हे विश्वरूप! मेरी ममता को भेंट दो। पाण्डवों और यादवों से कसी हुई इस दृढ़ श्रृङ्खला को छिन्न-भिन्न कर दो।

बस, अब विशेष विनय न करूँगी। अब आपसे मेरी एक ही अन्तिम प्रार्थना है। जैसी भगवती भागीरथी का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ही ओर वेग के

साथ बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे चित्त की वृत्तियां आपके चरणों की ओर लगी रहें। सब ओर से हटकर मेरा मन आपकी ही ओर दौड़ता रहे। आपको छोड़कर मुझे किसी दूसरे की चिन्ता न हो।" इतना कहकर महारानी कुन्ती चुप हो गई। उनकी आँखों में प्रेमाश्रु अब भी डबडबा रहे थे। मुनियों! जब कुन्ती ने इस प्रकार मधुसूदन की स्तुति की, तो श्यामसुन्दर मन्द-मन्द मुस्कराये। उनकी मुस्कान में ही तो मादकता है। जगत् की उन्मादित करने वाली माया ही तो उनकी हँसी है। जहाँ वे हँस पड़े, तहाँ सब किया कराया चौपट।

बड़े प्रेम से अपनी बुआ से बोले—"अच्छी बात है, तुम मना करती हो, तो मैं नहीं जाता। चलो हस्तिनापुर चलें।" यह कहकर सबके साथ श्यामसुन्दर महलों में आ गये। अब रोज ही जाने की तैयारियाँ होती, रथ तैयार होकर द्वार पर आ जाता, कभी महाराज युधिष्ठिर कहते—"वासुदेव! आज तो मैं नहीं जाने दूँगा। आज नक्षत्र ठीक नहीं, आज दिशाशूल है, आज अब देर हो गई।" कभी सुभद्रा कहती—"भैया! आज नहीं।" फिर कुन्ती बुआ की बारी आती—"अरे, आज तो किसी ने छींक दिया। सामने देखो रोते घोड़े आ गये। आज नहीं।" इस प्रकार आज कल करते हुए छः महीने श्यामसुन्दर और रहे।

इस प्रकार शत्रुओं को मारकर, महाराज युधिष्ठिर को समझा-बुझाकर, सिंहासन पर बिठाकर, भीष्म पितामह से धर्मराज को उपदेश दिलाकर, उन्हें सद्गति देकर परीक्षित् की रक्षा करके भगवान् वासुदेव द्वारिकापुरी को चले गये, वहाँ बड़े सुख पूर्वक रहने लगे।

इतना कहकर सूतजी चुप हो गये। तब शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो आप बड़ी शीघ्रता कर गये, श्रीकृष्ण-कथाही तो मधुरातिमधुर है, इनके रस के लोलुप ही तो हम सब यहाँ बैठे हैं। सब बात पूरी बताइये। भगवान् ने कैसे महाराज युधिष्ठिर को समझाया, भीष्म पितामह को कैसे कृतार्थ किया? इन सब बातों का विस्तार के साथ वर्णन करेंगे।"

शौनकजी की बात सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग

शौनकजी! मैंने शीघ्रता नहीं की। कथा कहने की ऐसी ही प्राचीन परिपाटी है। पहिले बात को संक्षेप से कहना, यदि श्रोता को उसे विस्तार के साथ श्रवण करने की रुचि वक्ता देखे, तो उसी का विस्तार से वर्णन करे और यदि श्रोता उस विषय में उदासीन-सा प्रतीत हो, तो आगे बढ़े। अब मैं आपको इसी विषय को विस्तार के साथ सुनाता हूँ।"

छप्पय

हे विश्वम्भर! विभो! आप है सबके स्वामी।
अच्युत अलख अनन्त अगोचर अन्तर्यामी।।
सुरसरिको शुभ सलिल, सदा सागरमेंजावे।
मेरो चञ्चल चित्त चरन तल तव त्यों धावै।।
बूआकी बिनती सुनी, प्रेम सहित प्रभु हँसि गये।
माया मोहित मन भयो, वासुदेव मन बसि गये।।

धर्मराज का पश्चात्ताप

(३१)

अहो में पश्यताज्ञानं हृदि रूढ़ं दुरात्मनः।
पारक्यस्यैव देहस्य वह्वयो मेऽक्षौहिणीर्हताः।।*

(श्री० भा० १ स्क० ८ अ० ४८ श्लोक)

छप्पय

नहीं द्वारिका गये लौटि महलनिमें आये।
धर्मराज रण-पाप सोचि पुनि-पुनि पछिताये।।
कैसी मम मति मलिन भई भाई निज मारे।
निज सम्बन्धी हने, सभी निर्दोष बिचारे।।
अश्वमेघ करि कवन विधि, परम पुण्य पुनि मिलि सके।
कीचड़की कालिख कबहुँ, कीचड़तें का धुलि सके।।

अपनी शक्ति के बाहर के कार्य को किसी आवेश में भरकर हम कर तो डालते हैं, किन्तु करने के अनन्तर अङ्गों में अत्यधिक शिथिलता का अनुभव

---

* पश्चात्ताप करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर कह रहे हैं—"हाय! मुझ पापी के हृदय पर छाये हुए अज्ञान को तो देखो, इस अनित्य और सियार कूकर के अथवा अग्नि के भक्ष्य नश्वर शरीर सुख के लिये, मैने अनके अक्षौहिणी सेना का शस्त्रों से संहार कर डाला। कितना भारी पाप मैंने किया।"

करने लगते हैं। इसी प्रकार द्वेष और अपमान की ज्वाला से सन्तापित होकर हम अपने प्रतिपक्षी को पराजित करने का प्रयत्न करते हैं। जब वह पराजित या नष्ट हो जाता है, तो द्वेष की वस्तु के न रहने पर—उसके अभाव में—हमारे मन में एक प्रकार की पश्चात्ताप पैदा होता है। मनुष्य के गुण उसके मरने के पश्चात् याद आते हैं। शरीर का अन्त होने के साथ सज्जनों का बैर का भी अन्त हो जाता है। पश्चात्ताप वैसे तो सभी को थोड़ा बहुत होता है, किन्तु मलिन मन वाले पुरुष उसका अनुभव नहीं करते। मन जितना ही राग-द्वेष आदि से रहित स्वच्छ और निर्मल होगा, पश्चात्ताप की अग्नि उसमें उतनी अधिक प्रज्वलित होगी।

धर्मराज शुद्ध अन्तःकरण वाले धर्मात्मा थे। कौरवों की क्रूरता के कारण यद्यपि अनिच्छा रहने पर भी उन्हें, उन सब का वध करना पड़ा। उस समय परस्पर में वे एक दूसरे से चिढ़े हुए थे। कौरवों ने अपनी काली करतूतों-द्रौपदी के अपमान आदि असह्य कार्यों-द्वारा पाण्डवों को अत्यधिक कुपित कर दिया था। अभिमान के साथ उनके सबके सामने अनेक बार धर्मराज को युद्ध के लिये ललकारा और बलपूर्वक कहा कि बिना युद्ध के एक सुई के छिद्र के बराबर भी पृथ्वी मैं पाण्डवों को न दूँगा। धर्मराज ने हर प्रकार से युद्ध रोकने की चेष्टा की। भगवान् को भेजा, पाँच गाँवों पर दुर्योधन की अधीनता में रहकर निर्वाह करना स्वीकार किया। किन्तु उस समय कुबुद्धि ने एक भी बात न मानी। तब विवश होकर धर्मराज को अपने शत्रुओं का संहार करने का ही निश्चय करना पड़ा। जनार्दन की सहायता से उन्होंने अपने शत्रुओं का संहार किया। सम्पूर्ण पृथ्वी का एकदम निष्कण्टक राज्य उन्हें प्राप्त हुआ। युद्ध के समय तो चित्त जय-पराजय की चिन्ता में इतना मग्न रहता है कि कभी दूसरी बात सोचने का अवसर ही न मिलता। अब जब सब शत्रु इस समय धराधाम को छोड़कर स्वर्ग चले गये। मनुष्य, हाथी, घोड़ा, वाहनों से शून्य, रक्त से भीगा हुआ पृथ्वी का राज्य जब धर्मराज ने देखा तो उन्हें अत्यन्त ही ग्लानि हुई। उन्हें अत्यधिक मानसिक सन्ताप होने लगा। वे बार-बार अपने को

धिक्कारने लगे। वे किसी से न तो बोलते थे, न बातें ही करते थे। अँधेरे में एकान्त में पड़े-पड़े निरन्तर रोते ही रहते थे। उन्होंने अमूल्य वस्त्राभूषण उतारकर फेंक दिये। स्वादिष्ट भोजन करना छोड़ दिया। वे कभी दिन में एक बार सत्तू आदि थोड़ा सूखा अन्न खा लेते, नहीं तो निराहार रहकर ही वे अपने शरीर को सुखाने लगे।

धर्मराज की ऐसी दशा देखकर पुरजन, परिजन, सगे सम्बन्धी, मन्त्री, अमात्य तथा प्रजाजनों को बड़ी चिन्ता हुई। सबने मिलकर ऋषि-मुनि और ब्राह्मणों से प्रार्थना की इस पिता, पितामह प्रपितामह की चली आई हुई भरतवंश की गद्दी पर धर्मराज को समझा-बुझाकर बिठाइये। बिना राजा के सिंहासनरुढ़ हुए शासन के समस्त कार्यों में शिथिलता आ जाती है। राज्य कर्मचारी मनमानी करने लगते हैं, प्रजा में अराजकता छा जाती है। मन्त्री, अमात्य और प्रजा के लोगों की ऐसी प्रार्थना सुनकर सभी ने मिलकर एक बड़ी भारी सभा बुलाई। जिसमें व्यास, धौम्य आदि पुरोहित अन्यान्य ज्ञानी ऋषि-मुनि तथा और भी राज्य के प्रधान-प्रधान अन्तरङ्ग पुरुष सम्मिलित हुए। चारों पाण्डव, गान्धारी, कुन्ती आदि गुरुकुल की स्त्रियाँ भी एक ओर बैठी थीं। एक ऊँचे आसन पर अन्धे धृतराष्ट्र भी विराजमान थे। भगवान् भी बैठे थे, किन्तु धर्मराज उस सभा में सम्मिलित नहीं हुए, तब तो स्वयं श्रीकृष्ण जाकर बड़ी अनुनय-विनय के साथ धर्मराज को सभा में बुला लाये। भगवान् ने आग्रह से धर्मराज अनिच्छापूर्वक सभा में आये। वे आकर एक बहुत ही साधारण से मलिन आसन पर बैठ गये। सभी धर्मराज के मुख कीओर देख रहे थे, किन्तु वे किसी की ओर ताकते तक नहीं थे। उनकी दृष्टि पृथ्वी की ओर थी और उनकी दोनों आँखों से श्रावण-भादों के मेघ के समान अश्रुओं की झड़ी लगी हुई थी।

इस प्रकार धर्मराज को अत्यन्त ही दुखित, पश्चात्ताप की ज्वाला में जलकर रोते हुए देखकर गुरुकुल के एकमात्र रक्षक सबके पितामह भगवान्

व्यासजी बोले---"धर्मराज! बेटा! तुम इतने अधीर क्यों हो रहे हो? तुमने कोई पाप-कर्म तो किया नहीं। तुमने तो, जो एक धर्मात्मा क्षत्रिय को करना चाहिये, वही किया है। तुमने किसी का धन अपहरण नहीं किया। निरपराधी का वध नहीं किया। तुमने तो धर्म-युद्ध में शत्रुओं को नष्ट करके अपने पितामह से पालित इस पृथ्वी को राज्य प्राप्त किया है। पाप करने पर पश्चात्ताप और प्रायश्चित किया जाता है। पुण्य से तो प्रसन्नता होती है। धर्म करके भी आप अधर्मी की तरह क्यों दुखी हो रहे हैं? राज्य के लिये सभी राजर्षि क्षत्रियों ने युद्ध किये हैं और उनमें अपने प्रतिपक्षियों का वध भी किया है। देवता और असुर एक पिता के पुत्र हैं। परस्पर में भाई-भाई होने पर भी सदा युद्ध करते रहते हैं और अपने विपक्षी को हराकर स्वयं राजा बनते हैं। कई बार असुरों ने देवताओं को भगाकर स्वयं इन्द्रासन का उपभोग किया है। इसी प्रकार देवताओं ने भी असुरों के बाल-बच्चों तक का वध किया है। आपने तो शत्रु सेना के वीरों को युद्ध में लड़ते हुए—अपने ऊपर प्रहार करते हुए—मारा है। इसमें द्वेष की कौन-सी बात है, जिसे तुम पाप समझ रहे हो, वह तो परम पुण्य है, जिसे अधर्म मान रहे हो, वह तो क्षत्रिय को मुख्य धर्म है।"

इस प्रकार भगवान् व्यासजी ने अनेक दृष्टान्त देकर, अनेक राजाओं के इतिहास को सुनाकर, अनेक स्मृतियों के वाक्य बताकर धर्मराज की शङ्का का समाधान करना चाहा, किन्तु उनकी समझ में ये बातें नहीं आई। व्यासजी के समझाने पर भी उनके मन में यह बात बैठी ही रही कि मैंने बन्धु-बान्धवों का वध करके घोर पाप किया है।

वे अत्यन्त उदास हो रहे थे। उन्होंने अपने आँसू पोंछते हुए कहा—"भगवान्! कौन प्राणी है, जो जीवित रहना न चाहता हो। अत्यन्त दुखी-से-दुखी प्राणी भी स्वेच्छा से मरना नहीं चाहता। ऐसे जीवित रहने की इच्छा वाले लाखों करोड़ों प्राणियों का मैंने क्रूरता पूर्वक वध किया है। यह धर्म हुआ—इसे मेरा अन्तःकरण स्वीकार नहीं करता।"

जब व्यासजी की बातों का धर्मराज पर कुछ भी प्राभाव न पड़ा, तो सब लोग श्यामसुन्दर देवकीनन्दन के मुखारविन्द की ओर देखने लगे। युधिष्ठिर के चारों भाई अत्यन्त दुखी थे। उन्हें शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से जो प्रसन्नता हुई थी, वह धर्मराज के मलिन मुख को देखकर जाती रही। उनका उल्लास तथा आह्लाद नष्ट हो गया। वे प्यासे चातकों की भाँति घनश्याम को निहारने लगे। तब तो श्रीकृष्णचन्द्र अपनी शीतल किरणों के प्रकाश से सभी को शीतलता प्रदान करते हुए धर्मराज से कहने लगे—"महाराज! यह कायरता आपको शोभा नहीं देती। मैंने कितने परिश्रम से तो यह राज्य लक्ष्मी प्राप्त की है। कितनी आशाओं को लिये हुए मैंने शत्रुओं का संहार कराया है। कितने श्रम से अनेक आशाओं के सहित फलवान वृक्ष को पाल-पोसकर खाद देकर बड़ा किया। जब उसके फलने का समय आया और सुन्दर-सुन्दर मधुर फल लगने लगे, तब आप उसे कुठार लेकर काटने के लिये उद्यत हो रहे हैं। यह आप हम सबके साथ घोर अन्याय कर रहे हैं। हम आपको हंस के समान शुभ्र श्वेत छत्र के नीचे भरत वंश के सिंहासन पर बैठा देखने को कितने लालयित हो रहे हैं। जब आप सुवर्ण सिंहासन पर विशाल छत्र के नीचे द्रौपदी के सहित बैठेंगे, अर्जुन और भीम आपके ऊपर छत्र करेंगे, नकुल और सहदेव स्वर्ण के मूठ वाली खड्ग लिये आपकी आराधना करेंगे, तब यह सभी कुरु जाङ्गल देश की प्रजा, मैं और ये भूमण्डल के समस्त राजा अत्यन्त ही आनन्दित होकर आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करेंगे। मेरी एकमात्र इच्छा आपको सम्राट् पर प्रतिष्ठित करने की थी। आपको चक्रवर्ती पद पर बैठा देखूँ, इससे बढ़कर संसार में प्रिय वार्ता मेरे लिये कोई दूसरी नहीं है। मेरी समस्त साधनायें इसी के लिये थीं आप अपने लिये नहीं, राज्य के लोभ से नहीं किसी के कहने से नहीं, मेरी तृप्ति के लिये सिंहासनरूढ़ हों। मेरी आँखों को तृप्त करने के लिये आप छत्र, चँवर को धारण करें।"

स्नेह जल से जिनके कमल नयन भीग गये हैं और प्रेम के आवेग से जिनका कण्ठ रुद्ध हो गया है, वे धर्मराज बड़े कष्ट से अपने आँसू पोंछते हुए

बोले—जनार्दन! आपकी मेरे ऊपर कितनी कृपा है—उसे शब्दों में क्या कहूँ? आपके लिये मेरे हृदय में कितना आदर है—इसे कैसे बताऊँ? आप हम दीन हीनों पर इतना स्नेह रखते हैं। आप हम असहायों के प्रति कैसी ममता करते हैं, इसे स्मरण करके मेरी छाती फटने लगती है। हे दीनबन्धों! हम आपकी ही सहायता से आपकी ही कृपा से बड़े-बड़े दुःखों से बिना प्रयास के ही पार हो गये हैं। अपने प्राण देकर भी मैं आपका कोई प्रिय कार्य कर सकता होऊँ, तो हे प्राणनाथ! ये प्राण प्रस्तुत हैं? आप स्नेहवश, ममतावश मुझ पापी को सिंहासन पर बिठाना चाहते हैं। दयासागर! मैं इस अहैतुकी कृपा के योग्य किसी प्रकार नहीं हूँ। मैंने ऐसे-ऐसे पाप किये हैं कि जिनका स्मरण करके मेरे रोम-रोम खड़े हो जाते हैं। मुझे रात्रि नींद नहीं आती। हाय! मैंने कितने जीवों का संहार करा डाला। कितने बच्चों को उनके पिताओं से पृथक् कर दिया, कितनी पत्नियों को उनके पति से पृथक् करके उन्हें सदा के लिये विधवा बना दिया। उनके हृदय से निकले हुए गरम आँसू मुझे, हे दीनबन्धो! जला रहे हैं। उन सबका शाप मेरे सिर पर सवार होकर मुझे प्राणान्तक पीड़ा पहुँचा रहा हैं आप तो मुझे राजा बनाने को कह रहे हैं, मैं तो अब किसी को अपना कलङ्कित काला मुख भी दिखाने योगय नहीं हूँ। आप भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव या और भी जिसे बनाना चाहें राजा बना दें। आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन कर सकता हूँ, प्राण देकर भी आपकी प्रसन्नता सम्पादन कर सकता हूँ, किन्तु आपको इस आज्ञा का पालन मुझसे न होगा। मैं इस रक्त रञ्जित सिंहासन पर किसी प्रकार नहीं बैठ सकता।" इतना कहते-कहते महाराज युधिष्ठिर वस्त्र से अपना मुख ढककर बालकों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। उन्हें रोते देखकर सभा में जितने मनुष्य बैठे थे, सबकी आँखे गीली हो गयीं। सभी एक साथ आँसू बहाने लगे।

धर्मराज की ऐसी दशा देखकर श्यामसुन्दर चुप हो गये। फिर सभी मुनियों के संकेत को समझकर भगवान् व्यासजी उन्हें इस प्रकार समझाने लगे—"देखो, पाण्डुनन्दन! तुम जो ये बातें कह रहे हो, सर्वथा अविवेक के

अधीन होकर कह रहे हो। पारिवारिक स्नेह बन्धु-बान्धवों के मोह के वशीभूत होकर तुम इस प्रकार अश्रु बहा रहे हो। तुम्हारे जैसे धर्मात्मा को, जो धर्म के मर्म को भली-भाँति जानते और समझते हैं, ऐसा शोक शोभा नहीं देता। बेटा! तुम इस चिन्ता को छोड़ दो। शोक, मोह को, मरे हुए को तिलाञ्जलि देकर बहा दो। तुमने जो किया है संसार के कल्याण के लिये किया है। धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। उसे वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने तुम्हारी तरह धार्मिक पुरुषों का सत्सङ्ग और गुरुजनों की आज्ञा का श्रद्धा भक्ति से पालन किया हो। जब तुम ही ऐसे विषयों में शोकाकुल हो जाओगे, तो साधारण लोगों की क्या दशा होगी? अब बहुत हो गया, मरना जीना तो सब प्रारब्ध के अधीन है। कौन किसे मारता है? सब अपने-अपने कर्मों के अधीन होकर मरते जीते हैं।"

रोते-रोते धर्मराज ने कहा—"भगवन्! मैं मरे हुओं के लिये मोहवश शोक नहीं करता। मुझे तो अपने ऊपर ही ग्लानि हो रही है। मैंने इतने जीवों की हिंसा क्यों की? बस, इस शरीर को सुखी बनाने के लिये ही। यह शरीर स्वभाव से ही रोग, शोक और चिन्ताओं का घर है। इसे कोई किसी तरह पूर्णरीत्या सुखी नहीं बना सकता, क्योंकि यह निसङ्गतः मलिन है। कितने भी सुन्दर, सुगन्धित, स्वादिष्ट पदार्थ क्यों न हों, जहाँ वे पेट में गये कि देखने में बुरा, दुर्गन्धयुक्त मल बन जाता है। संसार में सभी वस्तुष्टं सुन्दर और निर्मल हैं। एक यह देह ही इतनी मलिन और अपवित्र हैं कि इसके संसर्ग से सभी दूषित और दुर्गन्धियुक्त बन जाते हैं। इस शरीर से सदा मल निकलता रहता है। रोम-रोम से मल बहता रहता है। मुख से, आँखों से, नाक के छिद्रों से, जीभ से, दाँतों से, ओठों से दुर्गन्धयुक्त मल बाहर आता ही रहता है। पेट तो मल की थैली ही है। मल-मूत्र द्वार से मल निकलकर आस-पास की पवित्र भूमि को भी अपवित्र बना देता है। कितना भी सुगन्धित शीतल जल पीवें, थोड़ी देर में दुर्गन्धियुक्त मूत्र बन जायगा। रोमों से पसीना भी दुर्गन्धिपूर्ण निकलता है। वायु कितनी निर्मल है, किन्तु उसी का जब शरीर से संसर्ग होजाता है, तो अपान द्वार से कितनी दुर्गन्धित होकर निकलती है, ऐसे इस

अशुद्ध तथा रोग शोक के निवास भूत मलिन देह को सुखी बनाने के लिये मैंने भाइयों के रक्त से अपने हाथ रंगे। जब भी उचित कहा जा सकता था—यदि यह शरीर सदा बना रहता, सो बात भी नहीं। यह शरीर क्षणभंगुर है। अनेक पाप करके इसे पाला-पोसा, प्राणों के पृथक् होते ही यह बेकार बन जाता है। अपने किसी काम नहीं आता। अन्त में इसकी तीन ही गति हैं। पड़ा-पड़ा सड़ गया, तो कीड़े पड़ जाते हैं, सियार, कुत्ता, गिद्ध आदि मांस भोजी जीवों ने खा लिया, तो पेट में जाकर विष्ठा हो जाता है और किसी ने जला दिया, तो दो मुट्ठी भस्म हो जाता है। देह को प्राप्त करके जो पाँचों भूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-मलिन से दिखाई देते थे, वे विशुद्ध होकर अपने-अपने स्वरूपों में मिल जाते हैं। ऐसे इस अनित्य शरीर के पोषण के निमित्त किया हुआ पाप, कभी क्षम्य नहीं कहा जा सकता।"

व्यासजी ने कहा—"तुमने अपनी इच्छा से उन सब शत्रुओं को मारा नहीं। वे स्वयं तुमसे लड़ने आये। युद्ध को जो भी ललकारे क्षत्रिय का धर्म है, उससे ही सम्मुख युद्ध करें। यदि युद्ध के लिये ललकारने पर भी जो क्षत्रिय युद्ध से पराङ्मुख होता है, शास्त्रकारों ने उसे पापी बताया है। इसलिये आपने धर्म ही किया।"

धर्मराज बोले—"भगवन्! किसी का प्राण लेना कहाँ का धर्म है? फिर मेरे पीछे तो बहुत से बालक मारे गये, जिन ब्राह्मणों को अबध्य बताया है, ऐसे द्रोण प्रभृति ब्राह्मणों को भी हमने मारा। सगे सम्बन्धी, चाचा, ताऊ, बाबा, गुरु जो कि सर्वथा अवध्य माने गये हैं, उनको भी हमने बुरी तरह छल से मारा है। इन सब कार्यों के करने से अवश्य ही मुझे नरक की अग्नि में अनन्त काल तक पचना पड़ेगा।"

व्यासजी ने कहा—"भैया! प्रजा-पालन क्षत्रियों के लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म है। बस धर्म के पालन करने में प्रजा से द्रोह रखने वालों का यदि वध भी किया जाय, तो उस प्रजा-पालन रूपी धर्म से सबका प्राश्चित्त हो जाता है।

प्रजा-रक्षा के लिये शत्रु संहार पाप नहीं पुण्य ही है।"

धर्मराज ने कहा—"मैंने प्रजा पालन के लिये भी किया होता, तब भी मुझे कुछ सन्तोष होता। मैंने तो यह सब अपने निजी स्वार्थ के लिये किया। दुर्योधन कैसा भी था, उसका द्रोह हमसे था, हमें नष्ट करने पर वह उतारू था, प्रजा का पालन तो वह प्रेम से ही करता था। यों शत्रु-मित्र तो सभी राजाओं के होते ही हैं। प्रजा के लोग उसके राज्य में दुखी नहीं थे। वह यज्ञयागादि धर्मकार्य भी करता था। द्रोण, भीष्म आदि की सेवा बड़ी सावधानी से करता था। उन्हें यथेष्ट भोग पदार्थ देता था। सब सैनिक उससे सन्तुष्ट थे। पृथ्वी के राजाओं पर भी उसका प्रभाव था। उसके कहने मात्र से ग्यारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी हो गई और सभी अन्त तक प्राणों की बाजी लगाकर लड़ते रहे। किसी ने न उससे द्रोह किया न किसी ने अन्त तक उसका साथ छोड़ा। इसी से उसकी सर्व प्रियता सिद्ध होती है। ऐसे राजा को मैंने—प्रजा के हित के लिये नहीं—अपने पैतृक राज्य के लिये मारा है।"

व्यासजी ने कहा—"अच्छा राज्य के ही लिये सही पैतृक राज्य तो तुम्हारा ही था। धर्मपूर्वक न्याय से राज्य के एकमात्र अधिकारी तो तुम्हीं थे। तुम्हें उसने क्षत्रिय धर्म से भ्रष्ट करना चाहा। समर्थ होने पर भी जो राजा प्रजा का पालन नहीं करता वह पापी कहाता है। उसे अपने बाहुबल से भ्रष्ट करने वाले को मारकर राज्य लाभकरके प्रजा-पालन रूपी धर्म कार्य करना चाहिये। आपने ऐसा ही किया। युद्ध में पाप-पुण्य दोनों हो ही जाते हैं। पुण्य का आप भोग करें और पाप को अश्वमेधादि यज्ञ करके नष्ट करें। उससे पाप का भी क्षय होगा और तुम्हारी कीर्ति भी बढ़ेगी।"

धर्मराज बोले—"प्रभो! यह सब तो ठीक है। इन यज्ञादि गृहस्थोचित कर्मों के द्वारा मैं अपने मन को सन्तुष्ट भले ही कर लूँ, किन्तु जिन पत्नियों के पति मर गये हैं, जो बच्चे अपने पिताओं से पृथक् कर दिये गये हैं, उनका मार्जन कैसे होगा? उनकी ऊष्ण आहें तो मुझे भस्म करती ही रहेंगी। अश्वमेधादि

यज्ञ ठीक ही हैं, किन्तु उनसे की हुई हत्याओं का प्रायश्चित हो जायगा, यह मेरी समझ में नहीं आता। इन यज्ञों में भी तो अनेक वनस्पति, पुरुष, फल और बलि पशुओं की हिंसा ही होती है। हिंसा से हिंसा का मार्जन करना ऐसे ही है, जैसे कपड़े में लगी कीचड़ को कीचड़ से ही धोना। क्या कपड़े की कीचड़, कीचड़ से धोने से छूट सकती है? मेरी बुद्धि कहती है, नहीं छूट सकती। फिर हिंसा के एक पाप को मिटाने के लिये पुनः दूसरी हिंसा का ही आश्रय क्यों लें?"

इस प्रकार धर्मराज को जिसने भी समझाया, उसी को उन्होंने दुखित मन से रो-रोकर ये ही उत्तर दिये। सब लोगों कि आग्रह करने पर उन्होंने किसी प्रकार सिंहासन पर बैठना तो स्वीकार किया, किन्तु वे बार-बार कहते थे—"मैं तो अब सब कुछ छोड़कर अरण्य में जाकर शरीर को सुखाकर घोर तपस्या करूँगा, उससे जितना भी कुछ अपने पापों को मार्जन होगा करूँगा, शेष का फल नरकों में जाकर भोगूँगा।" ऐसी ही बातें कहकर वे राज्य के कार्यों से उदासीन ही रहे।

एक दिन धर्मराज रात्रि में भगवान् के दर्शनों को गये। भगवान् अर्जुन के ही महलों में रहते थे। उनके ही साथ भोजन, शयन, उठना, बैठना, उन्हें प्रिय था। धर्मराज ने क्या देखा कि भगवान् पद्मासन से बैठे ध्यान मग्न हैं। इस प्रकार प्रभु को समाधिस्थ देखकर धर्मराज स्तम्भित सेहो गये। वे बड़ी देर तक ज्यों-के-त्यों खड़े हुए भगवान् के श्रीमुख को निहारते रहे। कुछ काल के अनन्तर भगवान् का ध्यान भङ्ग हुआ। वे शीघ्रता के साथ अपने आसन से उठकर खड़े हो गये और अत्यन्त आदर के सहित धर्मराज को प्रणाम करके बोले—"आप कब आये? क्या देर से खड़े हैं? मुझे तो कुछ ध्यान ही न रहा।"

आसन पर बैठते हुए धर्मराज बोले—"प्रभो! मैं इन सब बातों का तो पीछे उत्तर दूँगा। इस समय तो जो मुझे शङ्का है, आप उनका समाधान कीजिये। मेरे प्रश्न का सत्य-सत्य यथार्थ उत्तर दीजिये।"

भगवान् बोले—"हाँ, कहिये, क्या कहते हैं?"

धर्मराज ने पूछा—"स्वामिन्! आप तो जगत् के ईश है, चराचर जगत् आपका ध्यान करता है, फिर आप किसका ध्यान कर रहे थे। आपसे श्रेष्ठ तो संसार में कोई है ही नहीं, फिर समाधि लगाकर आप किसका भजन चिन्तन कर रहे थे?"

आँखों में आँसू भरकर जनार्दन बोले—"धर्मराज! मेरे भी कुछ भजनीय हैं। वे हैं मेरे भक्त। मेरे भक्त मुझे जिस भाव से भजते हैं, ठीक उसी भाव से मैं भी उनका भजन करता हूँ। भक्त मेरा ध्यान करते हैं। मैं भक्तों का ध्यान करता हूँ। भक्त मुझे अपना इष्ट मानते हैं, मैं उन्हें अपना इष्ट मानकर उनके पैरों की धूलि के लालच से, उनके पीछे-पीछे घूमता हूँ। मैं अपने एक अत्यन्त प्रिय भक्त का ही इस समय ध्यान कर रहा था।"

धर्मराज ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"मैं सुनूँ भी तो, वे ऐसे कौन भाग्यशाली भक्त हैं। उनका मैं परिचय पाने को अत्यन्त ही उत्सुक हूँ।"

भगवान् ने आँसू पोंछते हुए गम्भीर स्वर में कहा—"धर्मराज, वे हमारे तुम्हारे पूजनीय पितामह भीष्म हैं। वे शर शैया पर पड़े-पड़े मेरा ही ध्यान कर रहे हैं। इसलिये मैं भी एकाग्रचित्त होकर समाधि में उन्हें ही देख रहा था, उन्हीं से मानसिक बातें कर रहा था।"

अत्यन्त ही उल्लास के साथ धर्मराज ने कहा—"प्रभो! हम तो यहाँ आकर अपने परमादरणीय पूज्य पितामह को भूल ही से गये। कल हम सब उनके श्री चरणों में अवश्य चलेंगे। वे धर्म के मर्म की भली-भाँति समझने और समझाने वाले हैं। मैंने देखा है, बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि उनसे धार्मिक शङ्काओं का समाधान कराने आते थे और वे सबकी शङ्काओं का सरलता के साथ समाधान कर देते थे। हम भी चलकर उनसे अपनी समस्त शङ्काओं का समाधान करावें। आप भी अवश्य हमारे साथ पधारें।"

भगवान् को तो यही अभीष्ट ही था, इसलिये तो ध्यान समाधि का ढोंग

रचा था। वे प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"हे भरतकुल तिलक महाराज! आपने अत्यन्त ही उत्तम विचार किया। आप हमारी बात तो मानते नहीं। पितामह ही आपको सब बातें समझायेंगे, वे ही धर्म का मर्म बतावेंगे।"

भगवान् के ऐसा कहने पर धर्मराज ने उनकी बातों का सत्कार किया और वे पितामह के समीप जाने के लिये तैयारियाँ करने लगे।

छप्पय

हूँ पापी अति अधम मोहिं नर-नारि न निरखें।
पत्नी पतितें पृथक् करी, विधवा बनि बिलखें।।
सबके सुत पितु मातु करुण क्रन्दन करि कोसें।
पाण्डव पापी परम बन्धु वधि निज तनु पोसें।।
कृष्ण! कहो कैसे करूँ, रक्त सुरञ्जित राजकूँ।
कौन करे सुख स्वजन बधि, ऐसे कुत्सित काजकूँ।।

भगवान् का पाण्डवों सहित पितामह के समीप गमन

(३२)

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम्।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा।।*

(श्री० भा० १ स्क० ८ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

धर्म-नीति कहि भाँति-भाँति सबने समुझाई।
किन्तु काहुकी बात धम-सुत मन नहिं भाई।।
कृष्ण कहें—श्रीभीष्म, हमारे अति ही प्यारे।
भक्ति भाव सुनि सभी दरसकू शीघ्र सिधारे।।
शोभित भीषम शर विंधे, अवनि उतरि जिमि रवि गिरे।
पाण्डव, पुरजन प्रभु सहित, सबनें पद बन्दन करे।।

सभी को संसार में अपना प्रेमी अत्यन्त ही प्यारा होता है। अपने प्रेमी की

---

* कुरुक्षेत्र में पाण्डवों ने पितामह भीष्म के समीप जाकर उन्हें शर-शैय्या पर शयन करते हुए देखा। उस समय वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों कोई स्वर्ग से देवता पृथ्वी पर गिर पड़ा हो। पाण्डवों ने अपने अनुयायियों सहित उन्हें प्रणाम किया और चक्रपाणि वासुदेव ने भी उनकी वन्दना की।

प्रसन्नता के लिये संसार के प्रिय से प्रिय पदार्थों के परित्याग के अनेक उदाहरण विद्यमान् हैं। जब संसारी पुरुष ही अपने प्रेमियों को इतना प्यार करते हैं, तो प्रभु अपने प्रेमी भक्तों को कितना चाहते होंगे, यह कहने की बात नहीं है। भगवान् ने स्वयं अनेक बार कहा है कि जितना प्यार मैं अपने भक्तों से करता हूँ, उतना न लक्ष्मी से करता हूँ, न अपने ब्रह्मा आदि पुत्रों से ही। मुझे सबसे प्रिय भक्त ही हैं। भक्तों के पीछे भगवान अपने आप को भी भूल जाते हैं। भक्तों को प्रिय करने के निमित्त उनके लिये कोई अकार्य काम नहीं है। अपनी पूजा-स्तुति से भगवान् उतने प्रसन्न नहीं होते, जितने भक्तों की पूजा-प्रतिष्ठा से प्रसन्न होते हैं। भगवान् तो स्वयं समस्त ऐश्वर्य, शोभा और यश के उद्गम ही हैं। किन्तु वे पृथ्वी पर अपने भक्तों के यश को फैलाने में अत्यधिक यत्नवान् रहते हैं। मेरे भक्तों का किसी प्रकार गुण-गान हो, यही उनकी आन्तरिक लालसा रहती है। अतः भगवान् के प्रसन्न करने का सरल उपाय यही है कि उनके भक्तों की पूजा, स्तुति करें, उनके चारु-चरित्र का ही सदा श्रवण करें। भक्तों की यश रूपी मणिमाला को सदा कण्ठ से धारण किये रहें। महाभारत, रामायण, पुराण आदि में भगवान् से अधिक भक्तों की ही महिमा है, यही भगवान् को अभीष्ट भी है। फिर भगवान के पास और है ही क्या, भक्तों के द्वारा ही तो उनकी महिमा है। जल में नौका खड़ी है, यदि पार जाने वाले यात्री ही न हों तो, उसका उपयोग क्या? सुन्दर-से-सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ रखे हों, यदि उनका कोई रसास्वादन लेने वाला ही न हो, तो वे व्यर्थ ही हैं। इसी प्रकार भगवान् की महिमा भक्तों द्वारा ही है। अतः भक्तों की कथा ही भगवत् कथा है। भक्तों के हाड़-चाम का तो वर्णन किया नहीं जाता, उनकी भक्ति की ही महिमा गाई जाती है। भगवान् में उनका कैसा अटूट स्नेह था और भगवान् भी उनके सभी कार्यों को स्वयं अपने हाथों से कैसे करते रहते थे, ये ही भक्तों की गाथायें हैं। इनमें भक्त तो उपलक्षण मात्र हैं, वास्तव में वे भगवत्-यश गुण गाथा ही हैं। पाण्डव त्रैलोक्य पावन क्यों हुए? इसलिये कि अपनी अनुपम भक्ति के द्वारा उन्होंने भगवान् वासुदेव को अपने अधीन बना लिया। इसी

प्रकार भीष्म पितामह के बल पराक्रम की उतनी प्रशंसा नहीं है, जितनी उनकी भगवत् भक्ति की प्रशंसा है। वे श्यामसुन्दर के अनन्य भक्त थे। शर-शैया पर पड़े हुए भी वे जगत्पति यादवेन्द्र का ही चिन्तन कर रहे थे। उनकी चित्तवृत्ति तैल धारावत् श्रीकृष्ण चरणों में ही अविच्छिन्न भाव से लगी हुई थी। इसलिये उनके यश का विस्तार करने के निमित्त तथा अन्त समय में उन्हें अपने देव-दुर्लभ दर्शन देने को देवकीनन्दन ने पाण्डवों सहित उनके पास जाने का निश्चय किया।

प्रात:काल हुआ। सभी पाण्डव तथा कुरुकुल के प्रतिष्ठित सेवक, पुरोहित और मन्त्री आदि सभी पितामह भीष्म के समीप चलने को सुसज्जित हुए। सभी अपने-अपने हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहनों पर चढ-चढ़कर धर्मराज के पीछे-पीछे चले। कृपाचार्य धौम्य, व्यास आदि पाण्डवों के पूजनीय पुरोहित धर्मराज के आगे आगे थे। शेष सभी धर्मराज को चारों ओर से घेरकर उसी प्रकार चले, जैसे देवगण देवराज को घेरकर चलते हैं। नगर के बाहर सभी एकत्रित हुए। धर्मराज चारों ओर आँखे फाड़-फाड़कर श्री कृष्ण को देख रहे थे, किन्तु श्रीकृष्ण उस भीड़ में दिखाई नहीं देते थे। अर्जुन का भी रथ उनके पीछे नहीं था। वे वहीं खड़े-खड़े चक्रपाणि मधुसूदन की प्रतीक्षा करने लगे।

इधर भगवान् अर्जुन के भवन में आनन्द पूर्वक सुख से विराजमान थे। उन्होंने इधर-उधर व्यग्र भाव से अर्जुन को चक्कर लगाते देखा, उन्हें इस तरह व्यग्र देखकर हँसते हुए वासुदेव बोले—"अर्जुन! तुम धर्मराज के साथ पितामह के दर्शनों को नहीं गये क्या? यहाँ इस तरह कस्तूरी मृग की तरह चक्कर क्यों लगा रहे हो?"

अत्यन्त उदासीन भाव से आकुलता के स्वर में अर्जुन बोले—"क्या बताऊँ महाराज! न जाने आज मेरा सारथि कहाँ चला गया। उसे ही ढूँढ़ रहा हूँ, इसलिये धर्मराज के साथ भी न जा सका।" यह सुनकर भगवान हँस पड़े और बोले—"अरे भैया, तेरा सारथि तो मैं ही बैठा हूँ। युद्ध समाप्त होने पर भी

तू मुझसे बिना रथ हँकवाये मानेगा नहीं। चल तूने तो मुझे बिना दाम के मोल ले रक्खा है।"

इतना कहकर त्रैलोक्य वन्दित पार्थ सारथी उठे। वे शीघ्रता के साथ, अश्वशाला में गये। घोड़ों को थपथपाया, सेवकों ने काठी लाकर घोड़ों की पीठ पर चढ़ाई। स्वयं श्यामसुन्दर ने धुरा उठाकर घोड़ों के ऊपर रखा। इस प्रकार घोड़ों को जोतकर हाथ में तोत्र (कोड़ा) लेकर आप सारथी के स्थान पर बैठ गये और सुसज्जित रथ लाकर अर्जुन के द्वार पर खड़ा कर दिया और बोले—"राजन्! आइये, रथ तैयार है। धर्मराज हमारी प्रतीक्षा में नगर के बाहर अवश्य खड़े होंगे।" हँसते हुए अर्जुन ने कहा—"मेरा सारथी बड़ा दीर्घ शूत्री है?" दोनों ही हँस पड़े और एक दूसरे से लिपटकर साथ-साथ रथ में बैठकर चल दिये।

दूर से धर्मराज ने वानरध्वजा से चिह्नित, गाण्डीवधन्वा अर्जुन के रथ की घरघराहट सुनी। वे समझ गये श्यामसुन्दर आ रहे हैं। दोनों ने धर्मराज के समीप पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया। धर्मराज अर्जुन से बोले—"अरे भाई तुम लोग तो बड़ी देर कर देते हो। क्या, सो गये थे?"

झूठी गम्भीरता दिखाते हुए अर्जुन ने हाथ जोड़कर कहा—"राजन्! मेरा यह सारथी बड़ा दीर्घ सूत्री है। आप राजा हैं, इस अपराध के लिये सारथि को ही दण्ड दीजिये।" धर्मराज हँस पड़े और बोले—"अरे भैया! तुम्हारे सारथि को दण्ड देने की सामर्थ्य किसमें है। वही जिसे जो चाहे दण्ड दे सकता है, जिस पर चाहे कृपा कर सकता है। मुझे तेरे इस सौभाग्य पर अत्यन्त ही ईर्ष्या है।"

इतने में ही श्यामसुन्दर कहने लगे—"धर्मराज! आज मेरा आने का विचार नहीं था, सोचा था—तुम आपस में बाबा नाती मिल-जुल लो। मेरी तो वहाँ विशेष आवश्यकता भी नहीं थी, इसीलिये मैं निश्चिन्त बैठा था। किन्तु तुम्हारे लघुभ्राता की आज्ञा हुई कि मेरा रथ ले चलो। तब मुझे आना ही पड़ा।

ये राजा ठहरे, इनकी आज्ञा न मानें तो भी कल्याण नहीं। इसी दुविधा में देर हो गई। आपको अवश्य हमारी प्रतीक्षा में देर तक ठहरना पड़ा। अब चलो, चलें।" यह कहकर सभी धर्मराज को घेरकर चलने लगे। अनेक प्रकार की कथा वार्ता कहते-कहते, परशुराम सरोवर, स्यमन्त पञ्चक और कुरुक्षेत्र का माहात्म्य सुनाते हुए श्रीकृष्ण धर्मराज के साथ-साथ जा रहे थे। उन्होंने कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध में—मरे हुए योद्धाओं तथा हाथी घोड़ों की—असंख्यों लाशें देखीं। ये सब सड़ रही थीं। उनमें से दुर्गन्ध उठ रही थी। रक्त की नदियाँ सूख गई थीं। जमा हुआ रक्त सूखकर फट गया था। मांस भोजी कंक, गृद्ध आदि पक्षी इधर-उधर उड़ रहे थे। इस प्रकार उस समरभूमि को देखकर, सभी सरशैया पर पड़े हुए पितामह के पास पहुँच गये।

अत्यन्त समीप पहुँचकर सभी अपने-अपने वाहनों से उतरकर पैदल ही पितामह के पास जाने लगे। धर्मराज ने कहा—"जनार्दन! आप हम सबके आगे-आगे चलें।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! मैं तो पीछे चलने वाला ही सेवक हूँ। तुम सब आगे चलके पितामह की चरण वन्दना करो, मुझे तो अभी घोड़ों को खोलना है, उन्हें टहलाना है। उन्हें स्वस्थ करके चरने को छोड़कर सब सारथियों के साथ मैं पीछे ही आऊँगा, आप सब चलें।"

धर्मराज ने कहा—"जैसीआपकी आज्ञा।" ऐसा कहकर अपने भाइयों के साथ धर्मराज पितामह के समीप पहुँचे। उस समय वे आँखे बन्द करके स्तवराज से पुराण पुरुष पुरुषोत्तम का ध्यान कर रहे थे। उनके दोनों ओठ हिल रहे थे। जैसे सन्ध्या के समय कमल कोष मुँद जाता है और अधिक ओस पड़ने से उसकी पङ्खड़ियों के किनारे से ओस कण टपकते हैं, उसी प्रकार उनके बन्द हुए नेत्रों की कोर से पृथ्वी पर टप-टप आँसू गिर रहे थे। वे ध्यान में तल्लीन थे। उनके सम्पूर्ण शरीर से दिव्य प्रकाश निकल रहा था। वे ध्यान में तल्लीन थे। उनके सम्पूर्ण शरीर से दिव्य प्रकाश निकल रहा था। वे वाणों की

शैया पर पड़े हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानों अपनी मूर्तिमान् तीक्ष्ण किरणों को पृथ्वी में गाड़कर सूर्य सो रहा हो। घनीभूत करके बिजली को जैसे किसी ने बाणों पर लिटा दिया हो, उसी प्रकार वे दमक रहे थे। ईर्ष्यालु बलवान् असुरों ने बाण मारकर जैसे देवराज इन्द्र को पृथ्वी पर गिरा दिया हो और देवता होने के कारण जैसे वे पृथ्वी को स्पर्श न करते हुए अधर में ही शयन कर रहे हों, उसी प्रकार वे अवनि से ऊपर उठे हुए केवल शरीर में घुसे हुए बाणों के सहारे पड़े थे। देवराज इन्द्र की तरह उनका सुवर्ण मण्डित किरीट चमचमा रहा था। उनके कानों के कुण्डल अब भी उनके कपोलों की शोभा बढ़ा रहे थे। उनके चमरी गाय के समान स्वच्छ सफेद बाल इधर-उधर अस्त-व्यस्त भाव से बिखरे थे। बगुला के पङ्खों के समान उनकी शुभ्र दाढ़ी हृदय पर उसी प्रकार शान्त भाव से विश्राम ले रही थीं, जैसे कोई सफेद बालों वाला पहाड़ी पक्षी पङ्ख फैलाकर सङ्गमरमर की शिला पर सो रहा हो। वे अविचल भाव से बिना वेदना प्रकट करते हुए परात्पर प्रभु के ध्यान में मग्न थे। धर्मराज ने धीरे-धीरे जाकर अपने किरीटयुक्त सिर से उनके चरणों की वन्दना की। नेत्रों के अश्रु के उष्ण जल को ही पाद्य बनाकर पितामह के पादों का प्रक्षालन किया। इसके अनन्तर सभी भाइयें ने उनकी चरण वन्दना की।

पैरों में अश्रु, किरीट और शिरों के स्पर्श से उनका ध्यान भङ्ग हुआ। बड़े-बड़े कमल के समान सुन्दर और अरुण नेत्रों के द्वारा कृपा भरी दृष्टि से उन्होंने पाण्डवों को देखा और फिर बोले—"बेटा युधिष्ठिर! तुम आ गये? अच्छा किया बेटा!" इतना कहते-कहते उनके नेत्र चञ्चल हो गये। वे पाण्डव और उनके साथी तथा सेवकों के बीच में मानों किसी को ढूँढ़ रहे हों। शर-शैया पर पड़े-पड़े ही उस वृद्ध राजर्षि ने पाण्डवों के सभी साथियों पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल ली फिर कुछ निराशा के से स्वर में बोले—"बेटा कौन-कौन आये हो तुम लोग?"

धर्मराज पितामह का अभिप्राय समझ गये। वे भी अनुभव करने लगे कि

मेरे पितामह की बूढ़ी आँख जनार्दन को खोज रही हैं, अत: बोले—"बाबाजी! हम सब भाई आये हैं और श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भी आये हैं।"

इतना सुनते ही वृद्ध का मुख मण्डल अत्यन्त प्रसन्नता के कारण दमकने लगा। साथ ही उनके मुख पर विद्युत की तरह आनन्द की आभा दौड़ गई अपनी उत्सुकता को दबाते हुए वे बोले—"अच्छा श्यामसुन्दर भी पधारे हैं, वे तो दिखाई नहीं देते।" पितामह इतना कह ही रहे थे कि बहुत से सारथियों के साथ में तोत्र (कोड़ा) लिये श्यामसुन्दर ने दूर से ही कहा—"पितामह के पूजनीय चरणों में अर्जुन के सारथि का प्रणाम पहुँचे।"

इतना सुनना था कि आँखें बरसनने लगीं, उनका कण्ठ भर आया, हृदय की गति वेग के साथ चलने लगी। गद्‌गद् कण्ठ होने से वे बड़े कष्ट से इतना ही कह सके अर्जुन के सारथि का ही में चिन्तन कर रहा था। कृपा करके उन्होंने मुझे दीन-हीन, साधन विहीन समझकर स्वयं जाकर प्रत्यक्ष दर्शन दिये।

वासुदेव! आओ मुझे कृतार्थ करो। इतना कहकर वे बाणों से विंधे अपने हाथों को उठाने की चेष्टा करने लगे। उसी समय तुरन्त वासुदेव ने हाथ का चाबुक फेंक दिया और दौड़कर जैसे बच्चा माँ की गोद में चिपक जाता है, उसी प्रकार उन्होंने अपना सिर पितामह के विशाल वक्षःस्थल पर रख दिया, जिस पर कि स्वेत दाढ़ी फहरा रही थी। श्वेत दाढ़ी के बालों में श्यामसुन्दर की काली-काली घुँघुराली लटें लिपटकर ऐसी शोभायमान होने लगीं, मानों प्रयागराज में गङ्गा-यमुना कर सङ्गम हो रहा हो। पितामह ने बड़े कष्ट से, रक्त से रंजित बाणों से विधा अपना हाथ श्यामसुन्दर के चरणों की ओर बढ़ाया, किन्तु वे चरणों को पा न सके। बीच में ही श्याम सुन्दर ने उसे उठाकर अपनी भीगी हुई आँखों पर रख लिया।

इतने में ही क्या देखते हैं कि बहुत से जटा जूटधारी बड़े-बड़े ऋषि महर्षि भीष्म पितामह के दर्शनों के लिये आ रहे हैं। वे सभी अपनी-अपनी तपस्या के प्रभाव से मूर्तिमान अग्नि की तरह प्रकाशित हो रहे थे। उनमें बहुत से देवर्षि थे, बहुत से राजर्षि थे, बहुत से ब्रह्मर्षि और महर्षि भी थे। उनमें पर्वत, नारद, धौम्य, व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, परशुराम, वशिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान् गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सदुर्शन शुकदेव, कश्यप, अङ्गिरा, अकृतवृण, आदि मुख्य-मुख्य थे। सभी के शिष्य-प्रशिष्य, पुत्र-पौत्र भी साथ ही थे। सभी भली-भाँति के नियमों के धारण करने वाले थे। उन महर्षियों को आते देख धर्मराज अपने भाइयों सहित, सम्भ्रम के साथ आदरपूर्वक उठकर खड़े हो गये। भगवान् वासुदेव ने भी उठकर उन महर्षियों को अभ्युत्थान दिया।

उठने में असमर्थ शन्तनु, पुत्र भीष्म ने पड़े-पड़े ही उन सब ऋषि महर्षियों का सत्कार किया तथा धर्मराज के द्वारा उन सबकी यथोचित् पूजा कराई और उन्होंने स्वयं पुराण पुरुष श्रीकृष्ण की मानसी पूजा की, क्योंकि वे तो उनके अन्तःकरण में सदा स्थिर ही रहते थे। उन्होंने यह भौतिक शरीर तो अपनी माया से लोगों को भुलाने के लिये बना-सा रखा है। वास्तव में तो वे

माया से परे माया के स्वामी हैं, जगन्नाथ हैं।

सब मुनियों ने आकर गङ्गा पुत्र-भीष्म से उनकी कुशल पूछी। कुशल प्रश्न के अनन्तर वे धर्मराज युधिष्ठिर की ओर देखने लगे।

छप्पय

शरशैयापै परे भीष्म विद्युत सम दमकें।
शोणित, शर, कच, कांति, इन्द्रधनु सम मिलि चमकें।।
बन्धु सहित ढिंग जाय युधिष्ठिर शिशु सम रोये।
अश्रुविन्दु बरसाय, युगल पद पङ्कज धोये।।
पाण्डु पुत्र पद पासमें, पग पकरे रोवत निरखि।
बोले उनते पितामह, नन्दनन्दनकी ओर लखि।।

भीष्म पितामह द्वारा श्रीकृष्ण महिमा वर्णन

(३३)

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षताम्
कलेवरं यावदिद हिनोभ्यहम्।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन्-
मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुभुजः।।*

(श्री० भा० १ स्क० ९ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

जिन्हें सारथी सुहृद सखा सेवक तुम मानों।
उन्हें सगुण साकार सर्व स्वामी करि जानों।।
कैसे-कैसे कठिन काज सब करे तुम्हारे।
भाववश्य भगवान् भक्त् भय हरिवे वारे।।

---

* भीष्म पितामह भगवान् से प्रार्थना करते हैं—"हे देव! मैं अब शरीर छोड़ना चाहता हूँ। जब तक मैं शरीर न छोडूँ तब तक आप अपनी उसी बाँकी छटा से, उसी प्रसन्न हास अरुण नयन युक्त उल्लासित मुखारविन्द चतुर्भुजी मूर्ति से मेरे ध्यान पथ पर स्थिर रहें। मेरे मन मन्दिर से चंचलतावश भाग न जायें।"

कमठ अण्ड सेवे सदा, भाव रखें त्यों दासमें।
दर्शन दैवे दयानिधि, आये सेवक पासमें।।

यद्यपि प्रेम प्रकट करने की वस्तु नहीं है। हृद्गत् भावों की भाषा यथावत् व्यक्त करने में असमर्थ है। फिर भी यह प्राणी इतना अधूरा है कि वह अपने हृद्गत् भावों को रोक नहीं सकता। अवर्णनीय प्रेम का वर्णन करने को विवश हो जाता है। न व्यक्त होने वाले भावों को व्यक्त करने की व्यग्रता होती है। जैसे हमको जिससे ईर्ष्या होती है उसकी निन्दा करने और सुनने में हृदय में एक प्रकार सुख होता है, उसी प्रकार जो हमारे प्रेमास्पद हैं, जो हृदय की कोठरी में हमारे साथ भाव शान्ति से निवास करते हैं जो एकान्त में मन-से-मन मिलाकर घुल-घुलकर प्रेम की सरस बतोड़याँ करते हैं, उनकी प्रशंसा सुनने से हृदय में आनन्द की लहर उठने लगती है। उनकी स्तुति करने से एक प्रकार का आत्म सन्तोष-सा होता है। उनकी प्रशंसा करने में प्रसन्नता, गुणगान, करने में चित्त प्रसाद और उनके यश वर्णन में अन्तःकरण उल्लास से भर जाता है। चित्त चाहता है—यदि सहस्त्रों जिह्वा हों, तो रात्रि दिन इसी प्रकार इनका यशगान करते रहें।

भीष्म पितामह के सर्वस्व श्रीकृष्ण ही थे। शरशैया पर पड़े हुए भी उनका चित्त परम पुरुष पुरुषोत्तम के पादपद्मों में ही लवलीन रहता था, वे अपनी वेदनापूर्ण वाणी में उन्हीं का साक्षात्कार करते और उनसे भाँति-भाँति की बातें करते रहते। अन्तःकरण में उनके सुखद स्पर्श का अनुभव करके, उनके रोमाञ्च हो जाते और वे सदा उन्हीं के भाव में भावित रहते। जिनका अन्तःकरण में सदा ध्यान करते रहते थे, वे सर्वत्र वास करने वाले वासुदेव अपना बड़प्पन छोड़कर मृत्यु के समय मुझे सशरीर साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन देने आये हैं—यह स्मरण करते ही भीष्मजी गद्गद हो उठे। उनकी आँखों के अश्रुओं का वेग वर्षा की गङ्गा-यमुना के समान हो गया और वे सिसकर-

सिसकर सरल शिशु की भाँति रोने लगे। श्यामसुन्दर ने अपने पीताम्बर से उनके आँसुओं को पोंछा और बड़ी ममतापूर्ण वाणी में बोले—"पितामह! देखो, ये तुम्हारे पौत्र पाण्डव आये हैं। इन्हें कुछ अन्तिम उपदेश दीजिये। इन्हें राजकाज समझाइये। अपने उत्तम उपदेशों से धर्मराज के शोक को दूर कीजिये।"

रुँधी हुई वाणी से वह बूढ़ा बालक विलखते हुए बोला—"वासुदेव! देख रहा हूँ मैं सब, कौन किसका पौत्र, कौन किसका पितामह, सबके एकमात्र स्वामी तो हे देवकीनन्दन! आप ही हैं। आपके सम्मुख मैं क्या कह सकता हूँ। ये पाण्डव ही संसार में भाग्यशाली हैं, जिन पर आपका इतना अधिक स्नेह है। संसार में पाण्डवों का ही जन्म सार्थक है जिनके रक्षक, स्वामी, सेवक सभी श्यामसुन्दर ही हैं। मैं अपने को भी धन्य मानता हूँ कि चराचर जगत् के जो पिता, पितामह, प्रपितामह हैं वे मुझे मुँह भरकर पितामह कहते हैं और जिनके पादपद्मों की पराग के लिये ब्रह्मावादिक देवता भी तरसते रहते है वे मेरे पैरों में सिर रखकर श्रद्धा से प्रणाम करते हैं। मुझसे बड़ा भाग्यशाली संसार में कौन होगा, जिसकी मृत्यु के समय स्वयं साक्षात् जनार्दन उपस्थित हों।" इतना कहकर पितामह चुप हो गये और उनके नेत्र बहने लगे।

अपने भाइयों सहित धर्मराज शिष्य, सेवक और सुतों के सहित समस्त ऋषि-मुनि गङ्गापुत्र भीष्म को घेरे बैठे थे। सफेद स्वच्छ वस्त्र पहिने, सफेद माला धारण किये, सफेद दाढ़ी मूँछ और केश वाले पितामह बाणों के ऊपर उसी प्रकार शोभित होते थे, मानों वे भोजपत्र के वन में कोई हिमालय का शिखर टूटकर गिर गया हो और उसके भार से टूटते आये वृक्षों ने उसे अधर में ही रोक लिया हो। नीलमणियों से पूर्ण नीलाञ्जन के शिखर के समान श्यामसुन्दर उनके सिर के समीप बैठे थे। पाँचों पाण्डव पादपद्मों से सटे इस प्रकार बैठे थे, मानों दो कमलों के सहारे से शीत से ठिठुरे पाँच पक्षी बैठे हों चारों ओर बैठे हुए ऋषि-मुनि ऐसे शोभित होते थे, जैसे अमरनाथ के

शिवलिङ्ग को अथवा केदारनाथ के शीतकालीन शिव को घेरे ८८ हजार ऋषि बैठे हुए हों। समुद्र के समान गम्भीर और हिमालय के सिर के समान निश्चेष्ट पड़े हुए भीष्म के मुख कमल की ओर सभी एकटक निहार रहे थे। उसी समय पक्षियों ने भी बोलना बन्द कर दिया था। सर्वत्र शान्ति का साम्राज् छाया हुआ था। प्रकृति स्तब्ध थी मानों भीष्म का अवसान समझकर उसने भी उनका अन्तिम उपदेश सुनने के लिये मौन व्रत धारण कर लिया हो। उसी नीरवता को भङ्ग करते हुए मेघ गम्भीर वाणी से रुक-रुककर कष्ट के सहित पितामह, पाण्डवों को लक्ष्य करते हुए अपने आप ही बोले—मानों वे आकाश से बातें कर रहे हों। उनकी आँखे बार-बार अश्रुपूर्ण हो जातीं और उन्हें श्यामसुन्दर अपने पीताम्बर से पोंछ देते और वे तत्काल ही फिर भी जाती।

पाण्डवों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—"पाण्डु के पुत्रों! देखों, मैं सदा से यही सुनता आया हूँ कि धर्म करने से सुख मिलता है और पाप करने से दुःख किन्तु तुम्हारे सम्बन्ध में विपरीत ही बात देखता हूँ तुम सब धार्मिक ही नहीं हो धर्म सन्तान हो। ये युधिष्ठिर तो साक्षात् धर्म के पुत्र ही हैं, मूर्तिमान् धर्म ही हैं। इतना सब होने पर भी तुमने कितने-कितने क्लेश सहे, दुष्टों ने तुम्हें कैसे-कैसे दुख पहुँचाये, तुम सदा राज्य से भ्रष्ट होकर अनाथों की तरह इधर-उधर भटकते ही रहे। इसमें मैं किसी को दोष नहीं देता, सब काल की महिमा है। नहीं तो तुम सब निर्दोष थे, धर्म से तुमने अपना मन नहीं हटाया, गुरुओं की, वृद्धों की, श्रद्धा सहित सेवा सुश्रूषा की, सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण का सहारा लिया, फिर भी जो कष्ट तुम्हें कभी भी नहीं सहन करने चाहिए थे, उन कष्टों को सबने सहा और दुःख से दिन बिताये।"

क्या भगवान् की लीला है? मेरी पुत्रवघू कुन्ती, महाराज भोज का पालिता प्यारी पुत्री, सदा महलों में सुख से पाली-पोसी गई, राजाओं के भी महाराज पाण्डु के साथ जिसका विवाह हुआ। जैसे एक सुन्दर सरोवर से कमलिनी दूसरे सुन्दर सरोवर में सावधानी के साथ लाई जाय, उसी प्रकार वह

मेरे द्वारा बड़े आदर से शूरसेन देश में हस्तिनापुर लाई गई थी। हम सबने भी उसे राजरानी बनाकर उसका यथोचित् स्वागत तथा सम्मान किया, किन्तु काल की कराल गति के कारण उसके प्यारे पति परलोक वासी हो गये। तुम सब बहुत छोटे-छोटे बच्चे थे। अरण्यवासी मुनि दयावश तुम सबको मेरे पास लाये। तुम सब मुझे ही अपना पिता समझते और अपने धूलि भरे हुए शरीरों से मेरे सब सफेद वस्त्रों को धूलि धूसरित बना देते थे और प्रेम से 'पिता-पिता' कहकर पुकारते थे। तब मैं तुम्हारा मुँह चूमकर कहता—"पुत्रों! मैं तुम्हारा पिता नहीं, तुम्हारे पिता का पिता हूँ। मुझे पितामह कहा करो। तब तुम सब लोग मुझे 'पितामह-पितामह' कहकर बुलाने लगे। कुन्ती अपने पति के असह्य वियोग को तुम सबका मुँह देखकर भूल गई थी। सदा सुख में ही जिसका लालन-पालन और पोषण हुआ है, उस पुत्रवती कुन्ती ने भी तुम्हारी उसी तरह रक्षा की, जैसे पक्षियों की माँ अपने अण्डों को छाती से लगाकर रक्षा और वृद्धि करती है। तुम सब अनजान थे, तुम्हें लिये हुए वह उसी तरह दुःख के सहित वनों और जङ्गलों में मारी-मारी फिरी, जिस प्रकार यूथपति के मर जाने पर हथिनी अपने बच्चों को लेकर इधर-उधर घूमती है।

मैं यह बात मरते समय कैसे कहूँ कि तुम्हें ये सब क्लेश दुर्योधन के कारण सहन करने पड़े। भैया! कौन किसे दुःख-सुख दे सकता है। इस प्रकार तुम्हारे कष्ट के कारण को मैं तो कालकृत ही मानता हूँ। ये काल रूप भगवान कब, किससे, कहाँ, क्या करना चाहते हैं, इसे कोई कह नहीं सकता। बड़े-बड़े विद्वान्, ज्ञानी, ध्यानी, मुनि भी काल की चेष्टाओं को यथावत् समझने में असमर्थ हैं। प्रायः लोग कह देते हैं—अजी, ये तो अपने पापों का फल भोग रहे हैं, जब कोई पराजित होकर दुखी होता है तो उसकी उपेक्षा करते हुए कहते हैं—निर्बल की यही दशा होती है। बल के बिना विजय प्राप्त होती ही नहीं। कोई कहते हैं—कला कौशल अस्त्र-शस्त्र की चतुरता से ही सुख प्राप्त होता है। किसी-किसी का मत है—सच्चे सहायक के बिना ही क्लेश सहन करने पड़ते हैं। यदि सर्व समर्थ सच्चा सहायक साथी हो तो मनुष्य को कभी क्लेश

हो ही नहीं। कोई-कोई कहते हैं—समुचित साधन सामग्री से ही सुख मिलता है। किन्तु तुम लोगों के सम्बन्ध में इनमें से एक भी बात का मैं अभाव नहीं पाता, तुम्हारे पास ये सभी वस्तुएँ उत्तम-से-उत्तम उपस्थित थीं।

पहिले धर्म को ही लो, जिसे सुख का मूल कहते हैं। तुम्हारे यहाँ धर्म की क्या कमी थी। साक्षात् धर्मावतार युधिष्ठिर तुम्हारे बीच में सदा उपस्थित रहे। जिनका मन स्वप्न में भी अधर्म की ओर जाने वाला नहीं हैं। अब रही बल की बात, सो, भीमसेन की सदृश संसार में बलवान् कौन होगा, जो गेंद की तरह हाथियों को उठाकर आकाश में फेंक देता है और फिर बीच में ही उन्हें हाथों में गेंद की भाँति ले लेता है, जो महावेगान् वायु का औरस पुत्र है।

कलाकौशल के द्वारा भी सबको वश में करके मनुष्य सुख प्राप्त करता है। सो, अर्जुन के सदृश सर्व अस्त्र-शस्त्र का ज्ञाता संसार में दूसरा कौन होगा? जिसकी सहायता की अपेक्षा स्वर्गलोक में इन्द्र तब को आपेक्षित है। निवात कवच असुर, देवताओं में भी अवध्य थे, उन्हें उसने अमोघ गाण्डीव धनुष के द्वारा मारकर यमपुर पहुँचा दिया, जो इन्द्र के प्रिय पुत्र हैं। एक ही बाण में त्रैलोक्य का संहार करने वाला विश्वविजयी जिसके पास गाण्डीव धनुष है, इतना सब होते हुए भी वही अर्जुन झोली बनाकर भिखारी की तरह घर-घर से, एक-दो दिन नहीं बारह वर्षों तक मुट्ठी-मुट्ठी अन्न की याचना करते रहे और मुट्ठी भर अन्न की आशा से कृपण गृहस्थियों के द्वार पर खड़े रहे। इन सबको देखकर कौन कह सकता है कि कलाकौशल और समुचित साधन सामग्री के द्वारा मनुष्य सदा सुखी रह सकता है।

अब रही सहायक की बात। मनुष्य एक छोटे से राज्य कर्मचारी का सहारा पाकर, संसार में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगता है। सो, इनके सहायक तो सम्पूर्ण संसार के स्वामी, सर्व समर्थ, सच्चिदानन्द स्वरूप, साक्षात् श्यामसुन्दर ही थे, इनसे बढ़कर सहायक कौन हो सकता था? ये सबके सहायक ही नहीं थे—सखा, स्वामी, सुहृद, सेवक सभी कुछ थे। इतना

सब होने पर भी तुम दुःख में पड़े वन-वन भटकते फिरे, नाना क्लेशों को सहते हुए घूमते रहे। इससे तो मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि काल कि गति दुर्निवार है। वे काल इन श्रीकृष्ण से कोई दूसरे देव हों, सो बात नहीं। काल स्वरूप ये ही श्रीकृष्ण-वर्ण को सबको अपनी ओर कर्षण करने वाले श्रीकृष्ण ही हैं। इन्हें कब, किससे, क्या कराना है, इसे कोई बिना इनकी कृपा के जान नहीं सकता। तुम्हें ये मेरे पास किसलिये लाये हैं? तुमसे, मुझसे ये क्या कौतुक कराना चाहते हैं? इसे तुम अभी नहीं जान सकोगे।

समीप में ही बैठे श्यामसुन्दर मुस्कराते हुए बोले—"पितामह! मेरी कौन सुनता है? देखिये, दुष्ट दुर्योधन से मैंने बार-बार कहा—सन्धि कर ले। उसने मेरी बात नहीं मानी। अब इन धर्मराज से कितने दिनों से कह रहा हूँ—धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो, सो ये मानते ही नहीं। सदा शोक-सागर में निमग्न रहते हैं। आप ही बताइये, शोक करने से इनके मरे हुए भाई अब स्वर्ग से लौट सकते हैं? मैं तो इनसे छोटा ही ठहरा। छोटों की बात बड़े मानते ही नहीं। छोटा होना ही बड़ा अपराध है। छोटों को सदा बड़ों की सेवा में ही लगा रहना पड़ता है और बार-बार यही सुनना पड़ता है कि अभी तुम बच्चे हो, तुम इस बात को क्या समझो? यह परम्परा ऐसा चली आई है, कि जो हमसे बड़े हैं वे हमें बच्चा कहते हैं। अपने से छोटों को हम भी इसी तरह कहते हैं। व्यासजी आपको डाँटते हैं, आप धर्मराज को डाँट सकते हैं और वही अधिकार धर्मराज का मेरे ऊपर है। अतः मेरी बात तो ये अनसुनी कर देते हैं, आप इन्हें राजकाज करने की आज्ञा दें।"

भगवान् की बात सुनकर पितामह हँसे और कहने लगे—"श्यामसुन्दर! तुमसे बड़ा कौन हो सकता है? तुम बड़ों के भी बड़े हो और अपनी इच्छा से छोटों से भी छोटे बन जाते हो। तुम्हारी यह बात है कि अपने भक्तों को सदा सम्मान देते दिलाते रहते हो। अपने सम्मान से तुम उतने सन्तुष्ट नहीं होते जितने अपने सेवक के सम्मान से सन्तुष्ट होते हो। अपनी कीर्ति तुम्हें उतनी प्रिय नहीं,

जितनी अपने भक्तों की प्रिय है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आप निग्रह करने में सर्व समर्थ होने पर भी धर्मराज को मेरे पास धर्म शिक्षा दिलाने लाये हैं। वेद आपकी निःश्वास हैं, सभी शास्त्र आपके हृदय से उत्पन्न हुए हैं। आपके सामने कोई कह ही क्या सकता है, किन्तु आप तो संसार में मेरा यश फैलाना चाहते हैं। मुझे ही यह गौरव प्रदान करना चाहते हैं। धर्मराज तो आपके आज्ञाकारी हैं। उन्हें आप जैसी आज्ञा करेंगे उसका वे श्रद्धा सहित पालन करेंगे।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"कहाँ करते हैं? बाबाजी! मुझे तो ये घुड़क देते हैं।"

सामने बैठे हुए धर्मराज ने आँखों में ही प्रेम के रोष से भगवान् को बरजा कि आप पितामह के सामने मेरी शिकायत कर रहे हैं। तब तो श्यामसुन्दर भीष्म की ओर देखकर कहने लगे—"देखिये, पितामह! आपके सामने ही मुझे डाँट रहे हैं। कहते हैं—"मेरी शिकायत पितामह से क्यों करते हो? अब बताइये, हम आपसे ही न कहें, तो और हमारा बड़ा बूढ़ा कौन है?"

बाणों की वेदना से व्यथित उस बूढ़े वीर के मुखमण्डल पर हँसी की स्पष्ट रेखा दौड़ गई, वे बोले—"श्यामसुन्दर! मेरी बगल में होने से, मुझे आपके हास्ययुक्त प्रसन्न बदन के भली-भाँति दर्शन नहीं होते, अतः आप मेरे सामने आ जायँ।" इतना सुनते ही पीताम्बर फहराते हुए श्यामसुन्दर ने अबोध बालक की भाँति पितामह की आज्ञा का पालन किया। वे उनकी दृष्टि के सामने ही—उनसे सटकर, उनके अङ्ग-से-अङ्ग मिलाकर—बैठ गये और अपना दुःख सन्तापहर कोमल कर कमल पितामह के वाणविद्ध अङ्गों पर शनैः-शनैः फिराने लगे। तब पितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"बेटा युधिष्ठिर! दूर होने से मुझे बोलने में कष्ट होता है। तुम यहाँ मेरे पास आ जाओ।" इतना सुनते ही पैरों के पास बैठे हुए धर्मराज पितामह की बगल में आकर बैठ गये। तब तो श्यामसुन्दर कहने लगे—"शास्त्रों का यह वचन है कि बिना वृद्ध के

सभा शोभा नहीं देती, मुझे सत्य ही प्रतीत होता है। वृद्धों के बिना तथ्यातथ्य का, नीति अनीति का, सदाचार और मर्यादा का यथावत् ज्ञान बालक या युवक पुरुष रख ही नहीं सकता। इस समय मैंने एक अविनय कर डाली, सम्राट् से ऊँचा बैठ गया। मेरी इस त्रुटि का मार्जन वृद्ध पितामह ने कैसे कौशल से कर दिया।"

इस पर धर्मराज और भी असन्तुष्ट हुए। वे अत्यन्त प्रेम भरे कोप के स्वर में कहने लगे—"आपके लिये तो संसार में कुछ शोक शोक मोह की बात है ही नहीं। आप तो दुःख, शोक सन्ताप से सदा रहित ही बने रहते हैं, किन्तु हम तो संसारी हैं। हमें तो दुःख भी होता है, हर्ष शोक भी होता है। हँसी के समय हँसी अच्छी लगती है। हर समय की हँसी ठीक नहीं।"

पितामह धर्मराज को बरजते हुए बोले—"ना, बेटा! ऐसे नहीं कहते हैं। तुम इतने दिन साथ रहे, फिर भी तुम इनके प्रभाव से अभी तक पूर्णरीत्या परिचित नहीं हुए।"

धर्मराज बोले—"इनका प्रभाव ही समझना होता तो केवल इस अनित्य शरीर के पालन-पोषण के लिये, अपने करोड़ों सगे सम्बन्धियों और भाई-बन्धुओं का वध क्यों करता? मैं तो इन्हें इतना ही जानता हूँ कि मेरे मामा वसुदेव के पुत्र है, मेरे छोटे भाई अर्जुन के सारथी हैं और मेरे रक्षक, कृपालु और भय-त्राता हैं।"

पितामह बोले—"हाँ, ये तो सब हैं ही किन्तु ये इतने ही नहीं हैं, इससे भी और अधिक हैं। अर्जुन का सारथ्य इन्होंने प्रेम के वशीभूत होकर ही किया है। तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर ही ये हस्तिनापुर तुम्हारे दूत बन गये थे। सेवक भृत्य का कार्य इनके अनुरूप् न होने पर भी तुम्हारे स्नेहवश इन्होंने उसे प्रसन्नता के साथ किया। तुम क्या, बड़े-बड़े ब्रह्मादिक देवता भी इनके सम्मुख सदा हाथ बाँधे आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं। इतना होने पर भी ये तुम्हारे सेवक, पहरेदार, मन्त्री, दूत, भृत्य, सारथि सब कुछ बने। यह सब करने पर

भी इनके महत्व में कोई अन्तर नहीं आया। ये आकाश की भाँति उसी प्रकार निर्लेप बने रहे।"

धर्मराज बोले—"महाराज, इन्हें आप आदि पुरुष, नारायण, निर्लेप, अज, अविनाशी बताते हैं, फिर इन्होंने वृष्णिवंश में अवतार क्यों धारण किया?"

आँखों में आँसू भरकर पितामह बोले—"बस यही तो इनकी अद्‌भुत अचिन्त्य क्रीड़ा है। इसी को देखकर तो अज्ञानी मोहित हो जाते हैं। वे इसी कारण इन्हें व्यवहार कुशल, मायावी, कूटनीतिज्ञ, सामान्य पुरुष समझने लगते हैं। अपनी मोहिनी माया का आश्रय लेकर—गूढ़ रूप से छिपकर-कपट से इन्होंने नर रूप धारण कर लिया है।"

धर्मराज हँसते हुए कहने लगे—"तब तो महाराज! ये बड़े मायावी हैं। तभी तो इन्होंने मेरे नाकों दम कर रखा है। संसार को अपने संकेत पर नचा रहे हैं। लोग रोते हैं, चिल्लाते हैं, दुख करते हैं, किन्तु ये उसी तरह सदा मुस्काराते रहते हैं। इनके मुख मण्डल पर कभी मैंने मलीनता देखी ही नहीं। दिन रात्रि वह पूर्ण चन्द्र के समान, शारदीय कमल के समान खिला ही रहता है। ये अपने त्रैलोक्य सुन्दर हास्य से सभी का मन अपनी ओर खींचते रहते हैं।"

पितामह बोले—"भैया, इनके लिये शोक विषाद है क्या? पर्दे के भीतर सूत्रधार शान्त उदासीन बैठा रहता है उसके नाटक को देखकर दर्शक कभी हँसने लगते हैं, कभी करुणा के प्रसङ्ग पर आँसू बहाने लगते हैं। सूत्रधार शान्त बैठा सब देखता है। वह कभी दर्शकों के साथ हँसता, रोता-सा भी प्रतीत हो, तो उसके हँसने रोने में और दर्शकों के हँसने रोने में बड़ा अन्तर है। संसारी नाट्य स्थली के सूत्रधारों को मान प्रतिष्ठा के लिये हर्ष शोक का होना सम्भव भी है किन्तु इस जगत् नाटक के सूत्रधार श्यामसुन्दर तो, हर्ष शोक से सर्वदा परे ही हैं। इसलिये भैया, अब तुम इनकी आज्ञा पालन करो। जैसा ये कहें वैसा करो। दुःख सुख सब इन्हीं भगवान् वासुदेव के अधीन हैं। दैव रूप से ये ही

सबको काल की प्रेरणा द्वारा कर्मों का फल भुगवाते हैं। तुम इसे इनकी ही प्रेरणा समझकर अनाथ प्रजा का प्रेम के साथ पालन करो। भरत वंश में तुम्ही ज्येष्ठ हो, समर्थ हो, विजयी हो, पराक्रमी हो, धर्मात्मा हो, प्रजावत्सल हो। प्रजा तुमसे हार्दिक प्रेम रखती है। उसका पुत्रवत् पालन करो और इस मोहजनित शोक का परित्याग करो। इन अहङ्कारहीन, सर्वात्मा, समदर्शी, सर्वशुद्ध, अद्वितीय ईश्वर में विषमता नहीं है। ये कच्छ, मच्छ, कूकर बनकर भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं। भक्तों के अधीन होकर ही ये उनके पुत्र, सेवक, सारथि सब कुछ बन जाते हैं। दूर कहाँ जाते हो? अभी देख लो, मुझ दीन हीन, साधन विलीन, कङ्गाल के ऊपर कृपा करके ये यहाँ मरते समय मुझे अपने देव दुर्लभ दर्शन देने दौड़ आये।

योगी लोग इनके एक बार दर्शनों के लिये सहस्रों युग तपश्चर्या करते हैं। अनन्त काल तक जप, तप, पूजा, पाठ करने का एकमात्र उद्देश्य ही यह है कि अन्त समय श्यामसुन्दर के सुमधुर नामों का इस जिह्वा से उच्चारण हो जाय। मन में इनकी यह त्रिभङ्ग ललित, टेढ़ी, काले-काले घुँघराले बालों वाली विश्वमोहिनी मूर्ति एक बार आ जाय तो हमारे सभी साधन सफल हो जायँ। अन्त समय में जिनके नाम का सङ्कीर्तन करने से, मन में भी भावमयी जिनकी छटा आने से सभी कर्म बन्धनों से छूट जाते हैं, वे भगवान् मुझ क्षत्रबन्धु के सम्मुख स्वयं साक्षात् साकार रूप से, चर्म चक्षुओं के सामने हँसते हुए आकर उपस्थित हो गये हैं। यह सौभाग्य किसी साधन के द्वारा साध्य नहीं, यह इनकी एकमात्र कृपा के ही ऊपर अवलम्बित है।"

धर्मराज आँखों में आँसू भरकर बोले—"पितामह! हम सब प्रकार अनाथ हो गये हैं। अब आप भी हमें परित्याग करके परलोक पधारने को प्रस्तुत हैं। हम ऐसे अभागे रहे कि पिता बाल्यकाल में स्वर्गवासी हुए। उनकी कुछ भी सेवा शुश्रूषा न कर सके। आप हमारे वृद्ध पितामह थे, प्राणपन से हमें आपकी इस वृद्धावस्था में सेवा करनी चाहिये थी, सो वह न करके हमने

आपको अन्याय से आहत करके शरशैया पर सुला दिया। प्रभु! हमसे अधिक पापी कौन होगा? हम गुरुजनों की कुछ भी सेवा न कर सके। अब इस अन्तकाल में परलोक पधारते समय यदि आप कोई सेवा हमें बतावें, कोई आपकी अन्तिम अभिलाषा हो, तो उसे प्राणपण से पूर्ण करने का हम प्रयत्न करेंगे।"

रुँधे हुए कण्ठ से अश्रु विमोचन करते हुए, बाणों से विद्ध वृद्ध पितामह, अपनी वेदनापूर्ण वाणी से रुक-रुककर कहने लगे—"कुन्तीनन्दन! आज तुम्हें समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का एकछत्र सम्राट् देखकर मेरी सभी अभिलाषायें पूरी हो गयीं। तुम सब श्रीकृष्ण की कृपा से दुःख सागर से पार हो गये, यही मेरे हर्ष के लिये पर्याप्त है। फिर भी तुम यदि मेरी कोई अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करना चाहते हो, तो वह एक ही है।"

अत्यन्त ही उत्सुकता और उल्लास के स्वर में धर्मराज ने कहा—"हाँ, हाँ, प्रभु! हमें आज्ञा दीजिये, हम कठिन-से-कठिन कार्य को करके भी, आपके मनोवांछित पदार्थ को आपके पाद पद्मों में प्रस्तुत करके आपकी इच्छा पूर्ति करेंगे।"

पितामह बोले—"यदि मेरी अन्तिम इच्छा पूरी करना चाहते हो, तो वह एक ही है। वह यह कि हम अर्जुन के सारथि अपने सखा, सम्बन्धी, मन्त्री बने हुए इन श्यामसुन्दर से मेरी ओर से यही प्रार्थना कर दो कि जब तक मैं अपने पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग न करूँ, तब तक वे इसी प्रकार पीत-पट फहराते हुए, वनमाला धारण किये हुए, शारदीय कमल सदृश विकसित नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए चतुर्भुज रूप से मेरे सम्मुख ही उपस्थित रहें। इन्हें देखते हुए इनका ध्यान करते हुए, इनके जगन्मङ्गल नाम का उच्चारण करते हुए, मैं इस शरीर का परित्याग करना चाहता हूँ। अब मुझे बहुत विलम्ब नहीं है। शीघ्र शरीर छोड़ दूँगा।"

हँसते हुए भगवान् वासुदेव बीच में ही बात काटते हुए बोले—"पितामह!

इसके लिये आपको धर्मराज से कहलाने को आवश्यकता न पड़ेगी। मैं तो आया ही इसीलिये हूँ कि जिन प्राणों को लोग अत्यन्त दुःख के साथ विवश होकर विलखते हुए छोड़ते हैं, उन्हें स्वेच्छा से हँसते हुए कैसे परित्याग करेंगे? जैसे सर्प स्वेच्छा से अपनी केचुली छोड़कर और अधिक चमकीला बनकर उसकी ओर बिना देखे ही भाग जाता है, उसी प्रकार आप इस नश्वर पाञ्चभौतिक देह का त्याग कर, देदीप्यमान दिव्य शरीर के किस प्रकार विमान पर चढ़कर देवलोक जायेंगे यही मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा है। मुझे आपकी इच्छा-मृत्यु-की बात पर बड़ा कुतूहल हो रहा है। मैं दुर्लभ दृश्य को देखने के लिये ही दौड़ा हुआ आया हूँ।

भगवान् की इस कृपालुता को स्मरण करके वहाँ बैठे सभी ऋषियों मुनियों सहित भीष्म पितामह आनन्द में विभोर हो गये। तब वहाँ बैठे हुए समस्त अपनी ऋषि-मुनियों ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"राजन्! अब ये शान्तनुसुत गांगेय अपने पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग करना चाहते हैं। इनके समान ज्ञानी, ध्यानी, नीति विशारद, भक्तितत्व के ज्ञाता, इस भूमण्डल पर दूसरे नहीं है। अतः आप इनसे नाना धर्मों को पूछ लें। यहाँ भगवान् व्यास भी बैठे हैं। वे उन सभी उपदेशों को संगृहीत करके उनका संसार में प्रचार और प्रसार करेंगे। नहीं तो इनका यह अमोघ ज्ञान-धर्म, नीति, आचार, विचार की समस्त विद्यायें इनके शरीर के साथ ही नष्ट हो जायँगी।"

ऋषियों की आज्ञा शिरोधार्य्य करके धर्मराज ने शरशैया पर शयन करते हुए गङ्गासुत भीष्म पितामह से वर्ण और आश्रमों के धर्म, सभी पुरुषों के स्वाभाविक धर्म, वैराग्य प्रधान निवृति मार्ग, कर्म प्रधान प्रवृत्त् मार्ग, दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म, जीवधर्म और भगवद् धर्म, इन सभी बातों को पृथक्-पृथक् संक्षेप और विस्तार के साथ पूछा। भीष्म ने भी भगवान् की प्रेरणा से समस्त प्रश्नों का बड़ा ही सुन्दरता और सरलता के साथ किसी को संक्षेप में कहकर, किसी का विस्तार के साथ उत्तर दिया। उन्होंने सबको साधनों सहित

और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सम्बन्धी अनेक इतिहास सुनाकर दृष्टान्त देकर सभी विषयों को भली-भाँति समझाया। सभी शङ्काओं का शास्त्रीय युक्तियों द्वारा समाधान किया। इन सबका वर्णन भगवान् वेदव्यास ने अपने महाभारत नामक पञ्चम वेद के 'शान्तिपर्व' में किया है।

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी ने पूछा—"महाराज सूतजी! ऋषि मण्डली से श्यामसुन्दर के सम्मुख धर्मावतार युधिष्ठिर के पूछने पर, वसुरूप से मानुष देह में आये हुए गङ्गापुत्र भीष्म ने जो धर्म कहे होंगे वे तो अत्यन्त ही दिव्य होंगे, उन सबका हमारे सम्मुख आप विस्तार के साथ वर्णन कीजिये। ऐसे पवित्र सम्वाद को सुनने की सभी उपस्थित ऋषियों को अत्यधिक उत्कण्ठा है।"

ऋषियों की ओर से शौनकजी के ऐसा कहने पर सूतजी बोले—"महाभाग! यथार्थ ही वह सम्वाद बड़ा ही दिव्य है, उसमें सभी विषयों के प्रश्न और उत्तर हैं। उसे तो आपको पृथक् ही महाभारत के प्रसङ्ग में सुनना चाहिये। यहाँ भागवती कथा के प्रसङ्ग में उनका प्रश्न करना अनुकूल नहीं। वह उपदेश स्वार्थ, परमार्थ, इहलोक, परलोक के सभी साधनों में मिला-जुला है। उसमें परमार्थ की अपेक्षा नीति और व्यवहार की बातें बहुत हैं। जैसे राजनीति में साम, दाम, दण्ड, भेद आदि के वर्णन, काम्य कर्मों का वर्णन, स्त्रियों का स्वभाव, उनकी बड़ी-बड़ी विलक्षण बातें, उनके कर्तव्याकर्तव्य आदि-आदि बातों का विस्तार है। यहाँ तो प्रसङ्ग केवल भगवत् सम्बन्धी कथाओं का ही है। आपकी आज्ञा है कि सब शास्त्रों का सार सिद्धान्त, भक्त और भगवान् की ही लीला तथा गुण कर्मों का वर्णन करूँ, अतः यह उन नीति व्यवहार की बातों का अवसर नहीं है। हाँ, तो उसमें भगवद्धर्म है उसका सार तो आगे उद्धव सम्वाद में सुनाऊँगा ही। इसलिये यहाँ मैं उसका विस्तार करना उचित नहीं समझता और यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं उसे भी सुनाने को प्रस्तुत हूँ।"

शौनकजी बोले—"ना-ना, सूतजी! अब ऐसी बात है, तो उसे इस

भागवती कथा के प्रसङ्ग में कहने की आवश्यकता नहीं। हमें साम, दाम, दण्ड, भेद सुनकर क्या करना है? स्त्रियों के भी स्वभाव, धर्म हम क्या सुनें। हम सब तो ऊर्ध्वरिता बाल ब्रह्मचारी हैं। हम तो इन सबको भगवान् की माया समझकर दूर से ही प्रणाम कर लेते हैं। इनके स्वभाव, धर्म और कर्तव्याकर्तव्य की तो वे ही सुनें, जिन्हें इनके साथ रहना हो, इनसे व्यवहार सम्पर्क रखना हो। अपने तो इन सबसे दूर ही रहते हैं। हमें तो आप विशुद्ध कृष्ण कथा या उनके पादपद्मों के मकरन्द के लोभी भक्तों के सुखद सम्वाद ही सुनाइये। हाँ, तो आगे क्या हुआ इसका कथन करें।"

सुतजी बोले—"आगे क्या हुआ? भीष्मदेव ने भगवान् की बड़ी अद्भुत स्तुति की, भगवान् को देखते-देखते इस पञ्चभौतिक शरीर का त्याग किया। इसे मैं आगे सुनाऊँगा। आप सब सावधानी के साथ श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

हैं नटनागर नवल नित्य नाटक नव खेलें।
देखि दयाके दृश्य दुःख दर्शक बहु झेलें।।
कब करवावें कहाँ कौनतें कैसो कारज।
भेद न जानें देव दैत्य दानव शङ्कर अज।।
अन्तकालमें कृष्ण कहि, नर अघ तजि हरि पुर गये।
ते मम मृत्यु समय समुझि, स्वयं श्याम सम्मुख भये।।

पितामह का परलोक प्रयाण

(३४)

विशुद्धया धारणया हताशुभ-
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधव्यथः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-
स्तुष्टाव जन्यं विसृजन्जनार्दनम्।।*

(श्री० भा० १ स्क० ९ अ० ३१ श्लोक)

छप्पय

भये अशुभ सब छीन शुद्ध मनमोहन धारे।
शस्त्र शूल सब शान्त भयो प्रभु निकट निहारे।।
इन्द्रिय वृत्ति विलास रुकीं हरि हियमें आये।
गद्गद गिरा गँभीर गीत गोविन्दके गाये।।

---

* विशुद्ध धारणा के कारण जिनके अखिल अशुभ क्षीण हो गये हैं। नयनाभिराम नन्दनन्दन के निरीक्षण से जिनकी समस्त शस्त्र व्यथा दूर हो गई है। जिनकी समस्त इन्द्रियों का वृत्ति विलास निवृत्त हो गया है वे भीष्मजी इस शरीर को परित्याग करते समय जनार्दन श्रीयदुनन्दन की गद्गद कण्ठ से स्तुति करने लगे।

मति हो मेरी कृष्णमें, गति हो गोवरधन धरन।
चञ्चल चित चितवें चरन, रटि रसना राधा रमन।।

ये मनस्वी, तपस्वी, यशस्वी धन्य हैं, जिनके मुख से मृत्यु काल में मनमोहन के सुमधुर नामों का उच्चारण हो जाता है। फिर उनके भाग्य का तो कहना ही क्या, जिन्हें अन्त काल में उन काले उष्ण की हृदय में मानसी बाँकी-झाँकी हो जाती है। फिर जिनकी मृत्यु समझकर स्वयं साकार स्वरूप से इन चक्षुओं के सम्मुख श्यामसुन्दर अपने आप ही आकर उपस्थित हों, उनके भाग्य के सम्बन्ध में उनकी तपश्चर्या, साधन और भक्ति-भाव के सम्बन्ध में कुछ कहना, मानों गिरा को अधिष्ठातृ देवी सरस्वती को लज्जित करना है। वे मूर्तिमान् तप और धर्म हैं, साधना के साकार स्वरूप हैं, भक्ति भागीरथी की आत्मा ही हैं, वे जगद्वन्द्य ब्रह्मादिक देवताओं के भी पूज्य और भगवान के दूसरे स्वरूप ही हैं। हमारे भीष्म पितामह भी उन्हीं भाग्यवान् भक्तों में से हैं। उनके पुत्र नहीं हुआ किन्तु आज समस्त वेद शास्त्रों के मानने वाले उनके पुत्र तुल्य हैं। अपने पितरों को जलाञ्जलि देते समय सभी शास्त्रज्ञ पुरुष उन्हें कहकर अन्त में तिल सहित अञ्जलि देते हैं। स्वयं श्यामसुन्दर ने जिनकी समस्त आज्ञाओं का-भक्तवत्सल होने के कारण—बालकवत् पालन किया, उन महाभाग भीष्म के भाग्य की सराहना किन शब्दों में, क्या कहकर की जाय?

वैयाघ्रपदगोत्राय शन्तनुप्रवराय च।
अपुत्राय ददाम्येत्तत जलं भीष्माय वर्मणे।।
भीष्मः शान्तनवो वीरः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
आद्भिरद्भिरवाप्नोतु पुत्र पौत्रोचितां क्रियाम्।।*

---

* वैयाघ्र जिनका गोत्र है, शन्तनु प्रवर हैं, उन पुत्र रहित क्षत्रिय भीष्म को मैं जलाञ्जलि देता हूँ। जो भीष्म शन्तनु के सुत हैं, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं, वे इस जल के द्वारा जो पुत्र पौत्रों के जल देने से क्रिया होती है, उसे ही प्राप्त हों।

धर्मराज के पूछने पर पितामह भीष्म ने उनके सभी प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया। देवकीनन्दन भगवान वासुदेव की कृपा से उनके शरीर की समस्त शर-पीड़ा विलीन हो गई। शरशैया पर पड़े-पड़े वे ऐसा अनुभव करने लगे, मानों मैं पुरुष शैया पर सुख से सो रहा हूँ। उनके वल में श्रम, वेदना, चित्त विभ्रम आदि सभी उपद्रव शान्त हो गये। निश्चल एकाग्र मति होकर धर्म उपदेश करते रहे। जल उपदेश करते-करते उन्होंने समझ लिया कि अब मेरे प्राण त्याग का समय आ गया है, तब वे उस कार्य से भी उपराम हो गये। स्वेच्छा मृत्यु वाले योगिजन जिनकी प्रतीक्षा में अपने प्राणों को अटकाये रहते हैं, वह उत्तरायण का उत्तम अवसर आकर उपस्थित हुआ। पितामह ने अपनी वेद-शास्त्र सम्मत बोलने वाली वाणी को विश्राम दिया। वे मौन हो गये, जिन्होंने युद्ध में बड़े-बड़े वीरों को बात-की-बात में यमपुर का द्वार दिखा दिया था, जिन्होंने प्रबल पराक्रमी योद्धाओं को हँसते-हँसते युद्ध में मार डाला था, जिनकी बराबरी का १८ अक्षोहिणी सेना में दूसरा बली वीर नहीं था, जो वृद्ध होने पर भी बड़े-बड़े युवकों के भी दाँत खट्टे कर देते थे। वे धर्म युद्ध में किसी से भी पराजित न होने वाले पितामह आज उसी तरह शान्त हो गये जैसे तेल के समाप्त होने पर दीपक शान्त हो जाता है। बोल बन्द होने पर उनकी अश्रु पूर्ण आँखे एकटक हो गयीं। उनमें निमेष उन्मेष होना बन्द हो गया। पलक न गिरने से उनके कमल नयन ऐसे प्रतीत होते थे, मानों मयूर के पङ्ख में बने नेत्र हों अथवा चित्र में लिखित नयनाभिराम दो सुन्दर आँखें हों। वे सामने बैठे हुए भगवान् वासुदेव की ही ओर निहार रहे थे। वासुदेव के अतिरिक्त उनकी दृष्टि में समस्त संसार शून्य-सा हो गया था, वे पास में बैठे पाण्डवों और मुनियों को भी नहीं देख सकते थे। उनकी दृष्टि तो आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों में अटकी हुई थी। कण्ठ में कफ आने से उनकी वाणी भली-भाँति स्पष्ट नहीं निकलीती थी। खाँसकर उन्होंने भगवान् की बड़े ही मर्मस्पर्शीय शब्दों में स्तुति की।

मुनियों! उस भीष्म स्तुति का एक-एक शब्द अमूल्य है। उन सबका

भाव कहने लगूँ, तो मैं उसे ही कहता रह जाऊँगा। आगे की कथा का प्रवाह रुक जायगा। अतः मैं भीष्म स्तुति को यहाँ न कहकर प्रसङ्गानुसार स्तुति के प्रकरण में फिर कहूँगा। यहाँ तो मैं कुछ स्वल्प शब्दों में उसका दिग्दर्शन मात्र ही कराकर आगे बढ़ूँगा।

उस समय भीष्मजी के नेत्रों के सम्मुख तो पीतपट धारी बनवारी बैजयन्ती माला धारण किये हुए स्वयं उपस्थित थे, किन्तु उनके हृदय पटल पर श्यामसुन्दर की वही रणाङ्गण की अर्जुन के रथ को हाँकने वाले मनमोहनी मूर्ति नृत्य कर रही थी। जैसे नाटक की रङ्गभूमि पर एक के अनन्तर एक इस प्रकार सभी अङ्गों के दृश्य आते रहते हैं, उसी प्रकार युद्ध में भगवान् ने जो-जो लीलायें कीं, जो-जो नाट्य किये, वे सब अन्तकाल में भीष्म के हृदय पटल पर आने लगे। कभी तो अपने सामने दौड़ते हुए यदुनन्दन को देखते, कभी वेग से अर्जुन का रथ हाँकते हुए निहारते। कभी किसी योद्धा को मारने के लिये अर्जुन को प्रेरित करते देखते। इस प्रकार श्यामसुन्दर की ही लीलाओं का चिन्तन करते हुए गद्गद कण्ठ से स्तुति करने लगे।

भीष्म बोले—"हे वासुदेव! मैं इस शरीर का परित्याग कर रहा हूँ। हे गोपीजनवल्लभ! मेरी दृष्टि तुम्हें छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाय और दूसरे स्थान में उसके चिन्तन के लिये आपकी ललित लीलाओं से बढ़कर लावण्य युक्त कौन-सा विमल और अत्यन्त लुभावना विषय होगा।"

हे घनश्याम! अर्जुन के रथ को हाँकते समय रथ के पहियों से उड़ी हुई धूलि से उनकी काली-काली घुँघराली अलकावली धूलि धूसरित हो गई थी। उस समय मैंने अपना सब बल लगाकर तुम्हारे कवच को छिन्न-भिन्न कर दिया था, तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर में रक्त की धारायें बह रही थीं। अनेक योद्धाओं के बिन्दु उड़-उड़कर तुम्हारे मुखमण्डल पर पसीनों के बिन्दुओं से मिले हुए वे ऐसे शोभित होते थे, जैसे मोतियों, में लाल के टुकड़े मिला दिये जायँ। उस समय तुम बड़ी व्यग्रता से रथ को हाँक रहे थे। जिस प्रकार अत्यन्त रागासक्त

गृहस्थी अपने बाल-बच्चों की रक्षा आदि में लगा रहता है, उसी प्रकार तुम अर्जुन के रथ को रक्षा में प्रवृत्त थे। वह तुम्हारी मनमोहनी ममत्व वाली मूर्ति मेरे मन मन्दिर में सदा निवास करती रहे।

आपने जब देखा कि मैं निर्दयतापूर्वक सभी शत्रु सेना का संहार कर रहा हूँ, तब आपसे नहीं रहा गया और अपने सखा से क्रोध करके आज्ञा के स्वर में बोले—"इस बूढ़े को मार डालो।" उसने जब आनाकानी की, तो आपने उसे तो अत्यन्त ही डाटा डपटा और कहा—"यदि तू नहीं मारता, तो मैं मारूँगा इस बूढ़े व्याघ्र को।" उसी समय का क्रोध से पूर्ण वह तुम्हारा तमतमाता मुखमण्डल मेरे मन में सदा बसा रहे।

तुमने प्रतिज्ञा की थी—'मैं संग्राम मैं शस्त्र ग्रहण न करूँगा।' मैंने प्रतिज्ञा की थी—'यदि मैं श्रीकृष्ण से शस्त्र न ग्रहण करा लूँ तो अपने को भरतवंशी शन्तनु का पुत्र कहना छोड़ दूँ। गङ्गाजी की कोख को कलुषित करने वाला कहलाऊँ।' भक्त और भगवान की दो परस्पर में विरुद्ध प्रतिज्ञायें थीं। संसार आश्चर्य-चकित था कि भला भगवान् के सामने इस अल्प प्राण पुरुष की क्या शक्ति है जो अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कर सके। किन्तु हे भक्तवत्सल! उस समय आपने मेरी ही विजय कराई। अपने को आपने भक्तों से परास्त ही मानकर अपनी कृपालुता-भक्तवत्सलता—का परिचय दिया।

उस समय आप अपनी प्रतिज्ञा को भूलकर रोष में भरकर अत्यन्त कुपित होकर मुझ आततायी के ऊपर रथ का पहिया लेकर बड़े वेग से टूट पड़े। जैसे कोई सिंह मतवाले हाथी पर टूटता है अथवा बाज अन्य पक्षी पर झपटता है। उस समय आपकी ये घुँघराली अलकें हिल रही थीं, वनमाला वक्षस्थल पर लहरा रही थीं, पीताम्बर पृथ्वी पर लटका हुआ घिसटता हुआ आ रहा था। अर्जुन आपको निवारण करने के लिये रथ से कूदकर आपके पैरों को पकड़े हुए था। उस समय उसे घसीटते हुए जब आप मुझ आततयी की ओर आये और मैंने हाथ जोड़कर आपका स्वागत-सत्कार किया, उसी तरह हे दीनबन्धो!

सदा मैं आपका स्वागत करता हूँ। वही कृपा से भीगी हुई प्रेम रोष अनुपम छटा मेरे चित्त में सदा बसी रहे।

आप मेरे सम्मुख हैं—मेरे नेत्र आपकी माधुरी का पान कर रहे हैं, वाणी आपके गुणानुवाद के गान में लगी है। चित्त में आपकी माधुरी मूरति बसी है, मन आपके ध्यान में मग्न है। अब मुझे और चाहिये ही क्या? अब मैंने सब कुछ पा लिया। अपने मनुष्य जीवन को सफल बना लिया, शरीर का सम्पूर्ण कर्तव्य कार्य कर लिया। अब तो आप मुझे अपने में मिला लें। अपने विश्ववन्दित चरणारविन्दों में सदा के लिये आश्रय दें।

इस प्रकार पितामह अनेक प्रकार से भगवान् की स्तुति करके भगवान में लीन हो गये। उनके शरीर त्याग करते ही सब-के-सब शान्त हो गये। वहाँ सर्वत्र सन्नाटा छा गया, जैसे सायंकाल कोलाहल करके वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी अपने-अपने घोंसलों में शान्त हो जाते हैं। भीष्म के इस निर्वाण को देखकर पृथ्वी और आकाश के सभी जीव परम विस्मित हुए। उन्होंने अपने योगबल से काल को वश में कर रखा था। उनकी इच्छा के बिना मृत्यु उनके पास भी नहीं फटक सकती थी। उनके शरीर त्याग करते ही पाण्डवों के सभी सेवक भेरी, दुन्दुभी, पणव, गोमुख आदि आद्यों को बजाने लगे। उधर देवताओं ने भी भीष्म के स्वागत में भाँति-भाँति के वाद्य बजाये। अनेक देवता, सिद्ध, चारण, गन्धर्व जो भीष्म के निर्वाण को देखने के निमित्त अपने-अपने विमानों में बैठकर आकाश में ठहरे हुए थे, उन्होंने भीष्म के शरीर पर नन्दन वन के पारिजात आदि वृक्षों के दिव्य पुष्पों की वर्षा की। गन्धर्व अपने सुरीले कण्ठ से भीष्म के गुणगान सम्बन्धी गीत गाने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं। सिद्ध, चारण साधु-साधु कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे और समुपस्थित ऋषियों और मुनियों ने भी उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। सभी उनके निमित्त भगवान् के सुमधुर मङ्गलमय नामों का पाठ करने लगे। इस प्रकार पितामह ने अपनी इहलौकिक लीला समाप्त की।

भीष्म की निर्जीव देह उसी प्रकार वाणों से विद्ध हुई चेष्टा शून्य वहाँ की वहीं पड़ी रही, किन्तु उसकी कान्ति मलिन नहीं हुई।

छप्पय

हे अनाथके नाथ! ज्ञान गीताके दाता।
हे अर्जुनके सखा! सारथी, दुखके त्राता।।
हे बूढ़ेकी कठिन प्रतिज्ञा पूरन कर्ता।
हे ब्रज बल्लभ! अखिल विश्वके हर्ता भर्ता।।
हरि हियमें धारन करै, करत विनय विह्वल भये।
कृष्ण! कृपालो! कृपानिधि, कहत भीष्म सुर पुर गये।।

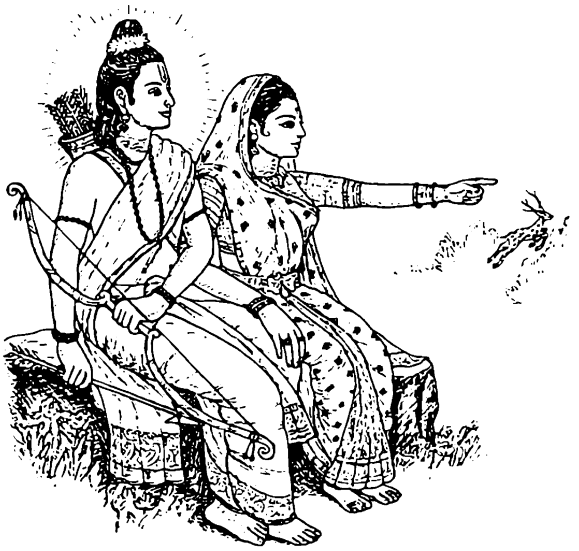

भगवान का द्वारका जाने का विचार

(३५)

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः।।*

(श्री० भा० १ स्क० ९ अ० ४९ श्लोक)

छप्पय

भये भीष्म जब शान्त कृष्ण पाण्डव पछिताये।
दाह-ऊर्ध्व संस्कार करे कुल कर्म कराये।।
सेवक स्वजन समेत हस्तिनापुरमें आये।
भये युधिष्ठिर भूप विविध विधि हरि समुझाये।।
सबको सब सन्तोष करि, श्याम सकुचि बोले वचन।
जाउँ द्वारका वहाँ हूँ, चिन्तित होंगे सब स्वजन।।

काल की गति दुरत्य है। उसे कोई मिटा नहीं सकता, अन्यथा नहीं कर सकता। कितने भी शूरवीर हों, कितने भी ज्ञानी, ध्यानी, तेजस्वी, तपस्वी क्यों न हों, काल किसी का शील सङ्कोच नहीं करता। जिसका, जिससे, जब तक,

---

* तदनन्तर अपने चाचा धृतराष्ट्र के समझाने-बुझाने से तथा श्रीकृष्ण के अनुमोदन करने से धर्मराज युधिष्ठिर अपने पिता पितामह से चले आये हुए राज्य को धर्मपूर्वक करने लगे।

जितना, जहाँ, जैसा, सम्बन्ध होगा, उसका उससे, तब तक, उतना वहाँ ही सम्बन्ध होकर रहेगा। जहाँ काल पूरा हुआ तुम अपने रास्ते, हम अपने रास्ते। नदी पार करने के लिये बहुत से नर-नारी एकत्रित होते हैं। नौका के छूटने में अभी कुछ समय शेष है, सभी घुल-मिलकर बातें करते हैं। परस्पर स्वभावनुसार प्रेम और कलह भी करते हैं—'यहाँ तो रोटी बनाने की मेरी जगह है, आपने चूल्हा क्यों बना लिया? वाह जी आपके बाप की जगह है, मैंने इसे स्वच्छ किया है।' बस, झगड़ा हो गया। मार-पीट तक की नौबत आ गई। रक्तपात भी कभी-कभी हो जाता है। दूसरी ओर, 'आप कहाँ जायँगे?' 'जी मैं वत्स देश की राजधानी में जाऊँगा।' 'आप कहाँ जायँगे?' 'मैं तो बन्धुवर त्रिवेणी स्नान के ही लिये आया हूँ। अभी नौका खुलने में देर है।' 'आइये भोजन कर लें।' 'जी, मैं भोजन करके ही आया हूँ।' 'नहींजी, थोड़ा तो करना ही पड़ेगा।' 'अच्छी बात है, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।'

दोनों मिलकर सगे भाई की तरह भोजन करते हैं, घुल-घुलकर बातें करते हैं। परस्पर पता ठिकाना लिखते हैं। बार-बार एक दूसरे को सावधान करते हैं—"दिखिये, भूल न जाइयेगा—सन्देश भेजते रहें। कभी-कभी मेरे यहाँ अवश्य-अवश्य पधारे।" मल्लाहों ने पुकारा—"चलो, चलो, नौका खुलती है। समय हो गया, अब रुक नहीं सकती।" सभी उसमें जल्दी-जल्दी जाकर बैठते हैं, एक दूसरे को ढकेलते हैं—'अन्धे हो गये? ऊपर ही चले आते हो? यहाँ कहाँ जगह है?' 'वाह जी तुम बड़े कहीं के चक्रवर्ती चले आये, मानों आपने नौका मोल ही ले ली है। हमने उतराई नहीं दी है क्या? ऐसे दूना लक्कड़ थे, तो अपनी अलग नौका करते।' 'अजी, आपने उतराई दी है, तो क्या किसी के सिर पर चढ़ोगे। आप तो ऐसे बिगड़ रहे हैं मानों हम आपके राज्य में ही बसते हों।' दूसरे समझदार वृद्ध लोग कहने लगते हैं—'अरे भैया! लड़ते क्यों हो, घड़ी भर की बात है, उस पार पहुँचे, कौन इसे सिर पर लादकर ले जायगा?' मल्लाह इन बातों पर ध्यान ही नहीं देते। वे अपने डाँड लगाने में, बल्ली ठीक करने में, पाल बाँधने में व्यस्त हैं। 'बोल गङ्गा माई की जय।'

नौका चलने लगी। बात-की-बात में उस पार पहुँच गई। अच्छा जी! राम-राम जी राम-राम साहब! अच्छा, भूलियेगा नहीं, राजी खुशी के समाचार देते रहें। बस, सबने अपना-अपना रास्ता पकड़ा। फिर कौन किसे समाचार देता है?

आये एकहिं घाट ते, उतरे एकहिं घाट।
अपने-अपने कर्म तें, ह्वै गये बारह बाट।।

भीष्मजी शान्त हो गये। सबके मुख म्लान हो गये। सबको अपने पूर्व कृत्यों पर पश्चात्ताप हुआ। पाण्डव बालकों की तरह रोने लगे। आज उनके पिता-के-पिता भी चल बसे। हाय! हम अनाथ हो गये। काल की कैसी कुटिल गति है। भगवान् ने सबको समझाया, धैर्य बँधाया। भीष्म पितामह के मृतक शरीर के सभी और्ध्व दैहिक कृत्य कराया। सभी उनके शव को बड़े ठाट-बाट से, राजसी सम्मान के साथ गङ्गा तट पर ले गये। धर्मराज ने सोचा—ये हमारे कुल के सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। ऐसा धार्मिक और दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष संसार में दूसरा मिलना दुर्लभ है, जो इतने बड़े साम्राज्य को सम्हालते हुए भी उसके भोगों से सदा तटस्थ ही रहे। जल में रहकर कमल की भाँति विषयों से उदासनी ही रहे। घर में रहते हुए भी, राज-काज करते हुए भी, त्यागी, तपस्वी, सन्यासी की भाँति इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन सदाचार के साथ बिताया। इसलिये इनका दाह-संस्कार ऐसे स्थानों पर हो जहाँ आज तक कोई शव न जलाया गया हो। शुद्ध शव के लिये विशुद्ध भूमि भी चाहिये। गङ्गा किनारे कोसों तक भूमि शोधी गई, किन्तु कभी किसी को किसी प्रकार का सन्देह होने से वह छोड़ दी जाती थी। अन्त में एक बड़े ऊँचे से टीले पर जिसमें बहुत से पेड़ खड़े थे, जो स्थान गुल्म लताओं से आच्छादित था—सर्व सम्मति से वहीं उनका दाह संस्कार करना निश्चित किया गया। भूमि शोधी गई, तृण गुल्म हटाये गये। लीपकर उस पर चिता बनाई गई। ज्यों ही पितामह के प्राणहीन शरीर को उस पर रखा, त्यों ही आकाशवाणी हुई कि इस स्थान पर कई लाख

बार भीष्म का शरीर जलाया गया है। सभी आश्चर्य चकित होकर श्यामसुन्दर की ओर देखने लगे। तब मन्द-मन्द मुस्कारते हुए माधव बोले—धर्मराज! इस संसार में नई तो कोई वस्तु है ही नहीं। घटनाओं की पुनरावृत्ति का ही नाम इतिहास है। वर्षा के बाद शरद, शरद के बार हेमन्त, जैसे ये क्रमशः छः ऋतुएँ बीतती हैं, फिर वर्षा आ जाती है—यह आने-जाने का क्रम अनादि काल से लगा है, अनन्त काल तक लगा रहेगा। जब यह शरीर ही नया नहीं है, तो नई भूमि तुम कहाँ से लाओगे। यह तो ऐसा ही संसार का अनादि प्रवाह चल रहा है, इसमें कौन किसका पिता कौन पितामह? आज जो पिता है, दूसरे जन्म में ही वह पुत्र बन जाता है। यह संसार ऐसे ही उलटता-पुलटता रहता है। इसलिये अब आप शोक मोह छोड़कर इस निर्जीव शरीर को जला दीजिये। अब तो यह मिट्टी, मिट्टी में मिल जाना है, इसके लिये अब अधिक विचार वितर्क करने की आवश्यकता नहीं।"

भगवान् के उपदेश से धर्मराज का शोक मोह दूर हुआ और उन्होंने शास्त्र विधि से पितामह की सभी पारलौकिक क्रियायें की। पितामह का शरीर भी जलाकर अग्निदेव ने भस्म बना दिया। सभी उनके गुणगान करने लगे। धर्मराज का हृदय शून्य-सा हो गया। संसार की असारता उनके आँखों के सामने प्रत्यक्ष नाचने लगी। देखो, जीवित अवस्था में सभी राजा, महाराजा, सेवक, सम्बन्धी पितामह के जिस शरीर का इतना सम्मान करते थे, उसका अन्तिम परिणाम दो मुट्ठी राख ही हुआ।

आये हुए सब ऋषि-मुनियों ने भगवान् की स्तुति की। उनके जगन्मङ्गल मधुरातिमधुर नामों का पाठ और गायन किया। फिर वे धर्मराज और भगवान् से अनुमति लेकर अपने-अपने हृदयों में भवभयहारिणी श्रीहरि की मूर्ति को धारण करके अपने-अपने आश्रमों को चले गये। इधर पाण्डव भी भगवान् की आज्ञा से अपने सगे सम्बन्धियों और सेवकों के सहित गङ्गा तट से हस्तिनापुर में आ गये।

धर्मराज ने देखा उनके ताऊ धृतराष्ट्र और उनकी ताई गान्धारी अत्यन्त ही शोक से व्याकुल हैं। तब धर्मराज ने उनके चरण को पकड़कर कहा—"पिताजी! अब आप अपने शोक को दूर कीजिये। हमारे अपराधों की ओर ध्यान न दीजिये। जैसे दुर्योधनादि आपके पुत्र थे, उसी प्रकार हमें भी अपना पुत्र ही समझें। जिस प्रकार आप पहिले रहते थे, उसी प्रकार आप अब भी रहें। आपके रहते हम सिंहासन पर कैसे बैठ सकते हैं? हम सबके आप ही राजा, रक्षक, गुरु और पालनकर्ता हैं। हम तो आपके सेवक बनकर आपके चरणों में बैठकर जैसी भी आप आज्ञा देंगे वैसा ही करेंगे। आप हम पर प्रसन्न हो जायँ।"

भगवान् ने भी कहा—"हे कुरुकुल तिलक! आप मुझ पर ही रोष न करें कि इसी ने मेरे पुत्रों को मरवा दिया है। कौन किसे मरवाता है? आप तो सब जानते हैं। सभी का निश्चित काल होता है। उससे अधिक कोई कितना भी प्रयत्न करें, नहीं जी सकता और उससे पहिले चाहे विष पी ले, अग्नि में कूद पड़े, पहाड़ से गिर पड़े, तो भी बच जाता है। अतः काल की गति समझकर आप शोक को दूर कीजिये और अब पाण्डवों को ही अपना पुत्र समझकर राज्य-काज कीजिये।"

धृतराष्ट्र ने आँसू पोंछते हुए कहा—"वासुदेव! मेरे क्रूरकर्मा पुत्र अपने पाप ही से मारे गये। उनके अधर्म ने ही उनका नाश किया। मैं उनके कर्मों से भी हृदय से सन्तुष्ट नहीं था, किन्तु पुत्र मोह के वशीभूत होकर और अन्धा होने के कारण उन पर शासन नहीं कर सका। हे देवकीनन्दन! आप तो सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ हैं। आप जो कराना चाहते हैं, वही होता है। आपने मेरे पुत्रों को बुद्धि ही ऐसी भ्रष्ट कर दी कि उन्होंने आपकी बात भी नहीं मानी। पाण्डवों को तो मैं पहिले भी पुत्रों की ही तरह मानता था, ये सब-के-सब समर्थ हैं, धर्मज्ञ हैं, सदाचारी तथा सुशील हैं और सबसे श्रेष्ठ बात यह है कि ये सब आपके भक्त हैं, अनुयायी हैं। इनकी विजय तो होनी ही थी। मुझे उन पापी पुत्रों की मृत्यु का उतना शोक नहीं है। दुःख इस बात का है कि मरने का समय मेरा

था। मैं न मरकर मेरे सामने ही मेरे सौ-के-सौ पुत्र मर गये राज्यकाज तो मैं पहिले भी नहीं करता था। अन्धा होने से मैं राज्य के योग्य नहीं था। जैसे पहिले दुर्योधन प्रजापालन का कार्य करता था वैसे ही अब धर्मराज करें। आप इन्हें ऐसी आज्ञा दें। अब तो ये ही मेरे पुत्र, और रक्षक सब कुछ हैं।"

इस प्रकार धृतराष्ट्र के कहने से और भगवान् के अनुमोदन तथा आग्रह करने से धर्मराज धर्मपूर्वक सभी राज्य-काज करने लगे। थोड़े ही दिनों में सब लोक कौरवों को भूल गये। सर्वत्र धर्मराज के शासन की प्रशंसा होने लगी।

इतना सुनकर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"महाभाग! जब पाण्डवों के राज्य को हड़प जाने वाले कौरवों का नाश हो गया, तब धर्मराज ने किस प्रकार शासन किया? भगवान् कितने दिनों तक और उनके साथ रहे? भगवान् फिर द्वारका गये या नहीं? इन सब सरस और सुखद बातों का वर्णन आप हमारे सम्मुख करें।"

शौनकजी के ऐसा पूछने पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! वह युद्ध क्या था भरतवंश रूपी बाँस के बन में लगी हुई दावाग्नि थी। जैसे बाँस अपने आप ही वायु के द्वारा रगड़े जाते हैं, तो उनसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी अग्नि से सब-के-सब भस्म हो जाते हैं। उसी प्रकार कौरव, पाण्डववंश में क्रोध रूपी अग्नि ने उत्पन्न होकर दोनों कुलों का नाश कर दिया। दोनों कुलों में आगे को कोई भी नाम लेवा, पानी देवा नहीं रहा।"

उत्तरा के गर्भ में छिपा हुआ बीज था, उसे भी अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र रूपी मूसा खा जाना चाहता था, किन्तु भगवान ने कृपा करके अपने चक्र से उस मूसे को मारकर अंकुर उठते हुए बीज को बचा लिया। अब सर्वत्र आनन्द फैल गया। धर्मराज राज्यभार के भय से राज्य नहीं त्याग रहे थे। वे तो अधर्म समझकर राज्य से उपराम हुए थे। जब धृतराष्ट्र ने, भगवान् ने, व्यास आदि ऋषि मुनियों ने, धौम्य कृपाचार्य आदि पुरोहित विप्रों ने मन्त्री और आमात्यों ने तथा समस्त प्रजाजनों ने उनको राज्य करने के लिए विवश ही किया, तो वे

धर्म समझकर राज्य-काज करने ही लगे।

जब पृथ्वी पर कोई धर्मात्मा राजा हो जाता है तो पृथ्वी प्रसन्न होकर सर्वदुधा बन जाती है, सभी प्राणी परस्पर का बैर-भाव भुलाकर आनन्दपूर्वक सभी कार्य करते हैं, तो फिर धर्मराज के राज्य में तो पूछना ही क्या! वे साक्षात् धर्म के अवतार ही थे। दुर्वासा के शाप वश धर्म में ही पृथ्वी पर तीन स्थानों में अवतार लिया था। एक बार तो काशी में धर्म चाण्डाल रूप से उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने राजा हरिश्चन्द्र को विश्वामित्र से मोल लिया था। दुबारा शूद्र योनि में बिदुर रूप से उत्पन्न हुए और तीसरी बार पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर के रूप में। इसीलिये धर्मराज कभी धर्म विरुद्ध कार्य का अनुमोदन भी नहीं करते थे। भीष्म पितामह ने प्राण त्याग करते समय उन्हें उत्तम राजनीति का उपदेश दिया था, फिर साक्षात् भगवान् उन्हें प्रत्येक कार्य में अपनी सम्मति देते थे। इन सभी कारणों से वे अपने आज्ञाकारी भाइयों के सहित समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वी का एक छत्र शासन करने लगे। पृथ्वी के समस्त भूप उनकी आज्ञा को सिर से स्वीकार करते थे। उनकी आज्ञा चारों दिशाओं में समान रूप से मानी जाती थी। उनके राज्य में मनुष्य को आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के तापों में से एक भी ताप सन्ताप नहीं था। न कोई दरिद्र था, न रोगी। समय पर आवश्यकतानुसार इन्द्र वर्षा करते थे। सभी देवता उनके अनुकूल आचरण करते थे। मनुष्य सब उनकी आज्ञा का पालन करते थे। मनुष्य ही नहीं—नदी, पर्वत, समुद्र, वनस्पति, लताएँ समस्त औषधियां सभी वृक्ष उनके प्रतिकूल कोई कार्य न करते थे। वृक्ष समय पर फलते-फूलते थे। सभी ऋतुएँ अपने-अपने समय पर अपने-अपने स्वभावनुसार सर्दी, गर्मी और वर्षा करती थी। गौएँ यथेष्ट दूध देती थीं। जिनसे पृथ्वी पर दूध की धारायें बहती थीं। सभी के घर में अतिथि पूजा होती थीं। परदेशों में जाने वाले पथिक भोजन बाँधकर नहीं चलते थे, क्योंकि जहाँ वे जाते थे, वहीं उनका स्वागत सत्कार होता था। खाने-पीने का उन्हें कोई कष्ट न होता था। वे किसी से पीने को पानी माँगते, तो उन्हें उसके स्थान में सुन्दर मिश्री मिश्रित दुग्ध मिलता था।

इसी प्रकार धर्मराज का शासन रामराज्य के समान हो गया। द्वापर में भी उन्होंने सतयुग बना दिया।

अब तो सब कार्य हो गये। भगवान फिर द्वारका चलने को उद्यत हुए। अब धर्मराज क्या कहते, द्वारका में भी तो कार्य है। यह बात फिर महलों में फैल गई कि श्यामसुन्दर अब जाना चाहते हैं। तब तो भगवान् की बहिन सुभद्रा अपनी विधवा पुत्र-वधू को पीछे करके उनके सामने आँसू बहाती हुई आकर खड़ी हो गई। उनके शरीर की आड़ में लजाती हुई नीचे मुँह किये हुए उत्तरा खड़ी थी, भगवान् ने कहा—"सुभद्रे! क्या कुछ कहना है?"

रोती हुई बहिन बोली—"मैंने सुना है, तुम द्वारका जाना चाहते हो?"

हँसते हुए भगवान् बोले—"तेरी क्या इच्छा है? सदा यहीं बना रहूँ? देख बहिन, बहुत दिन रहने में प्रेम नहीं रहता। एक दिन का मेहमान, दूसरे दिन का सेहमान और तीसरे दिन का असल बेईमान। अब बहुत दिन हो गये। वहाँ भी तो काम धन्धा देखना है।"

रोती हुई सुभद्रा बोली—"भैया, तुम तो हँसी करते हो। हमारा और सहारा कौन है? भैया, तुम्हारे ही सहारे से हम जी रहे हैं। मेरा अभिमन्यु जब से मुझे छोड़कर चला गया, तबसे मुझे संसार सूना-ही-सूना दीखता है। इस छोटी-सी बहू का ही मुँह देखकर मैं जी रही हूँ। इसकी रक्षा करना भैया! तुम किसी तरह।"

भगवान् बोले—"अरे, सुभद्रा, तू तो बड़ी पगली है। तेरा अकेला ही लड़का मरा है? इस युद्ध में कौन बचा है। गांधारी के तो सौ पुत्र मारे गये। द्रौपदी के पाँचों पुत्र मर गये। यह सब पर ही बीती है। फिर तू इतनी अधीर क्यों होती है? इस तेरी बहू के गर्भ से ऐसा राजर्षि पुत्र उत्पन्न होगा कि तुम्हारे समस्त कुल को पवित्र कर देगा। मैं वहाँ का काम-काज करके फिर जाऊँगा। अब तो मेरा आना जाना लगा ही रहेगा।" इस प्रकार भगवान् ने सुभद्रा को अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर महलों में जाने को कह दिया। वह अपनी

बहू के साथ रोती हुई भगवान् को प्रणाम करके चली गई। बात-की-बात में सम्पूर्ण महलों में यह समाचार फैल गया। सत्यवती, कुन्ती, द्रौपदी, गान्धारी सभी इस समाचार से अत्यन्त ही दुखी हुई। नगर में भी यह बात वायु वेग की भाँति फैल गई कि अब भगवान् द्वारका जाने वाले हैं।

छप्पय

जावेंगे यदुनाथ बात फैली घर-घरमें।
व्याप्यो सब थल शोक राज्य रनिवास नगरमें।।
सब ही कहिबे लगे—कृष्ण कब दर्शन देंगे।
कब पुनि पुण्य पराग पाद पद्मनिकी लेंगे।।
नरतनु फल है नयन ये, नन्दनन्दन निरख्यो करें।
काज करें कर कृष्णके, मनमोहन मनकूँ हरें।।

भगवान् का द्वारका गमन

(३६)

सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्।।
तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम्।
दर्शनस्पर्शसंलापशयनासनभोजनैः ।।*

(श्री० भा० १ स्क० १० अ० ११, १२ श्लोक)

छप्पय

दुखित भये नर नारि नयनते नीर बहावें।
नाथ! अनाथ बनाई बिलखते तजि घर जावें।।
हाय! विधाता बाम श्यामको साथ छुड़ावे।
हमकूँ कुटिल कराल कालहू च्यौं नहिं आवे।।

---

* कोई भी बुद्धिमान् पुरुष जिसका सत्सङ्ग के द्वारा दुःसङ्ग नष्ट हो गया है, वह उस सत्सङ्ग को छोड़ने की इच्छा नहीं करता। फिर जिन भगवान् का कीर्त्यमान मनोरम यश जिसने एक बार भी सुन लिया है, वह उसे कैसे छोड़ सकता है। उन्हीं पुण्य यश वाले प्रभु के पादपद्मों में जिन्होंने अपना चित्त निरन्तर लगा दिया है। जिसका मन उन्हीं के दर्शन, स्पर्श, संभाषण में लगा है, जो उन्हीं के साथ-साथ खाते-पीते तथा उठते-बैठते और शयन करते हैं, वे पाण्डव भगवान् के वियोग को कैसे सह सकते हैं।

भोजन भाषण, शयनमें, साथ श्याम सबके रहें।
पाण्डव पालित प्रेमके, प्रभु वियोग कैसे सहें।।

विधि का बलवान् विधान अनिवार्य न होता, तो कौन अपने प्रियतम से पृथक् होने की इच्छा करता। किन्तु विधाता ने संयोग के साथ वियोग को बाँध दिया है। जन्म के साथ पीछे ही मृत्यु सटी हुई है और सुख के साथ ही दुःख जुटा है। इसलिये प्राणी सभी कर्म करने में विवश है। जब जीव गर्भ में रहता है तथा जाति, कर्म, आयु, विद्या और मृत्यु—ये सब पहिले से ही—पूर्व कर्मानुसार-निर्माण हो जाते हैं। उसी के अनुसार प्राणी इच्छा न होने पर भी कार्यों में प्रवृत्त होता है।

भगवान् को बहुत दिन हो गये, पाण्डव उनमें ऐसे घुल-मिल गये कि उनमें और भगवान् में कोई भेद भाव ही न रहा। वे भी अपने को छः भाई समझने लगे और सब लोक भी पाँचों पाण्डव छठे नारायण की जय! कहकर जय घोष करते थे। वे इस बात को भूल ही गये कि भगवान को द्वारका भी जाना है। उन्हें अनुभव होने लगा कि भगवान् इसी तरह सदा हमारे बीच में रहेंगे, किन्तु अब वियोग का समय आ गया। भगवान् ने धर्मराज से कहा—"राजन् मेरा मन तो नहीं चाहता था कि तुम्हें छोड़कर कहीं जाऊँ, किन्तु करूँ क्या, वहाँ द्वारिका में भी सब लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, अतः मुझे जाने की आज्ञा दीजिये अब बहुत दिन हो गये।" इतना सुनते ही धर्मराज का हृदय भर आया, कण्ठ गद्‌गद हो गया। वे कुछ कहने में भी समर्थ नहीं हुए। अब कब तक रोकते? वे कुछ कहने में भी समर्थ नहीं हुए। भगवान् को द्वारावती जाना ही है, अतः धर्मराज उनकी विदाई को प्रबन्ध करने लगे। जैसे समुद्र में पर्व के दिन ज्वार भाटा आता है उसी प्रकार समस्त हस्तिनापुर में हलचल मच गई। सभी के नेत्र अश्रुपूर्ण थे, सभी भगवान के वियोगजन्य दुःख से दुखी थे। भगवान् की आज्ञा से सारथी रथ तैयार करके द्वार पर ले आये।

व्यासजी, कृपाचार्य, पुरोहित धौम्य तथा अन्य वेदज्ञ ब्राह्मणों ने भगवान् का स्वस्त्ययन किया। वस्त्र, आभूषण और सुगन्धित मालाओं से सुसज्जित

श्रीनिवास भगवान् के विशाल भव्य मस्तक पर पुरोहित धौम्य ने कुंकुम से श्री बनाई, उसमें केशर से रँगे अक्षत लगे थे, दही, दूर्वा, लाजा खील से उनको-उनके शिर को—अलंकृत किया। डबडबाई आँखों से, ऊपर से मन्द-मन्द मुस्कराते, पान चबाते श्यामसुन्दर भवन से निकलकर बाहर हुए। सभी ब्राह्मणों ने, पाण्डव तथा बन्धु बान्धव, मन्त्री और अमात्य और प्रजाजनों ने उनका अनुगमन किया। रत्नखचित प्राङ्गण में आकर भगवान् ने झुककर महाराज युधिष्ठिर के चरण स्पर्श करने चाहे बीच में ही झपटकर धर्मराज ने दोनों विशाल बाहु फैलाकर भगवान् को अपनी छाती से चिपटा लिया। जिस वक्ष स्थल में श्रीवत्स का चिह्न है और कौस्तुभ मणि शोभा दे रही है, भगवान् के उस विशाल वक्ष स्थल को धर्मराज ने अपने वक्ष स्थल से लगाकर गाढ़ा आलिङ्गन किया। वे बहुत देर तक श्यामसुन्दर को अपनी छाती से लगाकर अपना ताप सन्ताप मिटाते रहे। आँखों से निकले हुए अश्रुओं ने श्यामसुन्दर के सिर के—उनके काले-काले घुँघराले-बालों को भिगो दिया। धर्मराज के नेत्रों से निकले हुए प्रेमाश्रु उन काले बालों में ऐसे प्रतीत होने लगे, मानों किसी ने मोती पिरो दिये हैं।

इसके अनन्तर भीमसेन को भगवान् ने प्रणाम किया, अर्जुन को गले से लगाया। नकुल सहदेव ने आकर भगवान् के चरण छुए। उन्हें स्नेह से अपने चरणों से उठाकर भगवान् ने आशीर्वाद दिया और आलिङ्गन करके कहने लगे—"देखो, धर्मराज की प्रत्येक आज्ञा को बड़ी सावधानी से तुम सब लोग पालन करना। सब लोग पृथ्वी की ओर देखते हुए अश्रु बहा रहे थे। इसके अनन्तर और भी प्रजाजनों ने भगवान् को यथोचित प्रणाम नमस्कार किया, ब्राह्मणों को उन्होंने स्वयं प्रणाम किया।' उत्तर में वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उन्हें भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये। तब महलों में भगवान् अपनी बुआ के पास गये। वृद्धावस्था के कारण पलंग पर पड़ी हुई अपनी बुआ के भगवान् ने पैर पकड़े। शीघ्रता से उठकर उन्होंने भगवान् को उसी तरह प्यार किया, जैसे गौ अपने बछड़े को प्यार करती है। कुन्ती ने भगवान् के सिर पर हाथ फेरा और रोती हुई

बोलीं—"क्या वासुदेव! अब तुम जाओगे ही?" भगवान् भर्राये हुए कण्ठ से कहने लगे—"हाँ बुआजी! अब तो जाते ही हैं, फिर आऊँगा।" इतने में ही सत्यवतीजी भी आ गईं, सुभद्रा के कन्धे पर हाथ रखे हुए—"आँखों में पट्टी बाँधे—गान्धारी ने प्रवेश किया। उनके पीछे घूँघट से अपना मुँह ढके उत्तरा भी आ रही थी। पाण्डवों की अन्य स्त्रियाँ भी द्रौपदी को आगे करके भगवान् के समीप आई। सबके नेत्र लाल थे और वे आँसुओं से उसी प्रकार भरे थे, जैसे

अधिक ओस पड़ने से कमल की कलियाँ ओस से भर जाती हैं। गान्धारी ने अपने काँपते हुए हाथों से टटोलकर भगवान् के श्रीअङ्ग पर हाथ रखते हुए कहा—"जनार्दन! पुत्र-शोक से दुखी होकर, मैंने जो कुछ अनुचित कह दिया हो उसे आप मन में न लायें, भूल जायें, क्योंकि वासुदेव! मैं तो तुम्हारी माया से मोहित अज्ञात स्त्री ही ठहरी।"

भगवान् ने अत्यन्त ही स्नेह से कहा—"यह आप कैसी बातें कह रही

हैं? आप मेरी हर प्रकार से पूज्या हैं। बच्चों से कहीं क्षमा माँगी जाती है? जैसे युधिष्ठिर आपके बच्चे हैं वैसा ही मैं हूँ। आप मुझे दूसरा समझकर ऐसी बातें क्यों कह रही हैं?"

इतने में ही प्रेम-कोप में भरी हुई द्रौपदीजी ने कहा—"आप दूसरे तो हैं ही। अपने होते तो हमें ऐसे छोड़कर क्यों चले जाते? आपके लिये हम दूसरे, हमारे लिये आप दूसरे।"

भगवान् हँसे और बोले—"सम्राट् की पत्नी सम्राज्ञी, भले ही हमें दूसरा समझें, हम तो उनकी प्रजा ठहरे।"

और कुपित होकर द्रौपदीजी बोलीं—"रहने दो चलो। तुम्हें हर समय हँसी ही सूझती है। क्या सचमुच जा रहे हो? देखो आज शकुन भी ठीक नहीं, दिन भी अच्छा नहीं है।"

भगवान् बोले—"सब शकुन शुभ हैं, दिन भी बड़ा मङ्गलमय है। अब तुम मुझे प्रेमपूर्वक अनुमति ही दो।"

सुभ्रदा आगे बढ़कर भगवान् से लिपट गई और रोने लगी। भगवान् बोले—"अरे सुभद्रा! तेरा अभी लड़कपन नहीं गया। जाते समय रोना चाहिये कि अपने भाई के प्रेमपूर्वक प्रसन्नता से विदा करना चाहिये?"

इतने में ही आगे बढ़कर अपने वस्त्रों को सावधानी से समेटकर घूटने टेककर सिर को पृथ्वी में लगाकर, हाथ जोड़कर, उत्तरा ने भगवान् को प्रणाम किया। भगवान् आशीर्वाद देते हुए कहने लगे—"बेटी! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करना। तुम्हारे गर्भ से भरत वंश की कीर्ति को बढ़ाने वाला परम भागवत राजर्षि पुत्र होगा।"

इस प्रकार सभी को समझा-बुझाकर सभी को सन्तोष करके, सबको यथायोग्य प्रणाम, नमस्कार, आशीर्वाद और प्यार करके भगवान् चले। महल के दरवाजे तक सभी स्त्रियाँ उनके पीछे-पीछे आई। द्वार के बाहर तो सबके सामने आर्य ललनायें जा नहीं सकतीं। अतः वहीं से दरवाजे और खिड़कियों के

सामने खड़ी होकर—भगवान् के रथ को देखने लगीं।

पाण्डवों की तो बुरी दशा थी। उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। वे भगवान् की ओर देख भी नहीं सकते थे। बार-बार पोंछने पर भी नेत्र अश्रुओं से भरे हुए ही प्रतीत होते थे। कोई इधर-से-उधर आ रहा था, कोई इधर-से-उधर जा रहा था। इस प्रकार सम्पूर्ण नगरवासी भगवान् की यात्रा में व्यग्र हो रहे थे। धर्मराज ने बड़ी व्यग्रता के साथ कहा—"भीम! सेनापति से कहो, चतुरङ्गिणी सेना सजावें।"

हँसते हुए वासुदेव ने पूछा—"क्यों, सेना सजाने का क्या प्रयोजन है? क्या कोई अब शत्रु रह गया क्या? किसी पर फिर चढ़ाई करनी है?"

धर्मराज सरलता के साथ बोले—"चढ़ाई अब किस पर करनी है, आपके साथ सेना जायगी।"

हँसते हुए मदनमोहन बोले—"मेरे साथ सेना का क्या काम? मैंने रास्ता नहीं देखा है क्या?"

अत्यन्त ही प्रेम के वेग में माधुर्य मिश्रित वाणी से धर्मराज बोले—"देखो, वासुदेव! मेरी यह बात माननी पड़ेगी। अकेले मैं आपको जाने नहीं दूँगा। अभी-अभी विश्वव्यापी संग्राम हो चुका है। सभी राजाओं से हमने शत्रुता कर ली है। जिन राजाओं के सम्बन्धियों को हमने संग्राम में मारा है, वे हमारा समय पाकर अनिष्ट भी कर सकते हैं। यदि आपका किसी ने कुछ भी अप्रिय कार्य कर दिया तो हमारा जीना व्यर्थ है।"

ऋषियों! इसी का नाम है—माधुर्य, माधुर्य में ऐश्वर्य की महत्ता की गन्ध भी नहीं रहती। चराचर के निग्रह अनुग्रह में समर्थ सर्वान्तर्यामी वासुदेव की रक्षा सेना कर सकेगी? जिनके भृकुटि विलास से सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि कार्य स्वतःही होते रहते हैं, उनका अनिष्ट ये पृथ्वी के क्षुद्र प्राणी कर सकते हैं? किन्तु माधुर्य्य में तो अपना इष्ट अपने अधीन है। उसके पालन पोषण कर भार तो अपने ही ऊपर है। माधुर्य्य में तो इष्ट अपने ही समान गुणा वाला आहार, निद्रा, भय वाला बन जाता है। अतः धर्मराज का यह कार्य

उचित ही था। उनकी इस बात को सुनकर वासुदेव बोले--"अच्छी बात है, चतुरङ्गिणी सेना चले साथ।"

देवकीनन्दनकी अनुमति पाकर बात-की-बात में सेना तैयार हो गई। वर्षाकालीन मेघ के समान उमड़ती हुई सेना ने अपने भीषण कलरव के द्वारा हस्तिनापुर में शरद्काल में भी वर्षा का दृश्य उपस्थित कर दिया। अब भगवान् की सवारी चली! आज अर्जुन स्वयं रथ हाँकने बैठ गये, आज रथी सारथि और सारथी रथी। कौरव कुल की कामिनियाँ जो झरोखों से झाँक रही थीं, उनका हृदय फटने लगा। उमड़ते हुए आँसुओं को उन्होंने बड़ी कठिनता से भीतर-ही-भीतर पी लिया कि कहीं यात्रा के समय अश्रू विमोचन करने से रास्ते में देवकीनन्दन का कुछ अनिष्ट न हो।

रथ के आगे-आगे मृदङ्ग, वीणा, शङ्ख, भेरी, गोमुख, धुन्धरी, आनक, घण्टा और दुन्दुभी आदि बाजे बजने लगे। उनके लय और स्वरों के सहित बाजा बजाने वाले वाद्यों को बजाने लगे। भगवान् के पीछे-पीछे और सभी लोग अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर उनका अनुगमन कर रहे थे। प्रजा के लोग पैदल ही प्रभु के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। धर्मराज ने आज खुले हुए रथ पर श्यामसुन्दर को बिठाया, जिससे नगर के सभी नर-नारी उनके देव दुर्लभ दर्शनों से वञ्चित न रह सकें। महलों की अटा अटारी, छज्जे, तिवारी, ओखा-मोखा जारी झरोखों से मृगनयनी, नगरवासिनी नारियाँ नन्दनन्दन की छटा निरख रही थीं। हस्तिनापुर की सड़कें बड़ी विस्तृत थीं। उनके दोनों ओर धनिकों के एकखने, दुखने, चौखने, सतखने भवन बने थे। उनकी सभी खिड़कियाँ खुलीं थीं, उनमें नगर की नारियाँ अपनी-अपनी सखी-सहेलियों के साथ बैठी हुई श्यामसुन्दर की सुहावनी सवारी की शोभा देख रही थीं। सड़के खचाखच भरी थीं, उधर का आदमी इधर निकल नहीं सकता था। सभी उच्च स्वर में श्यामसुन्दर के सुमधुर नामों को लेकर जय घोष और नाम सङ्कीर्तन कर रहे थे। अश्वारोही अपने-अपने भालों में रङ्ग-विरङ्गी पताकायें लगाये घोड़ों को नचा रहे थे। वायुवेग से ध्वजायें उसी प्रकार हिल रही थी। जिस प्रकार

भगवान् के वियोग में नारियों के कोमल हृदय हिल रहे थे। वे खिड़कियों में बैठी हुई अपने नीचे तो अश्रु रूपी मोतियों की वर्षा कर रही थीं और श्यामसुन्दर को लक्ष्य करके सड़क पर सुगन्धित पुष्पों को विखेर रही थीं। पुष्पों से भगवान् ढक गये। इतने में ही भगवान् के सारथि ने हाथ जोड़कर अर्जुन से कहा—

"महाराज्! आप भगवान् के समीप ही विराजें। इस भीड़-भाड़ में घोड़ें बहुत विदकते हैं।" कुन्तीनन्दन अर्जुन ने भी देखा भगवान को धूप लग रही है और फूल तथा फूलों के गुच्छे आ-आकर भगवान् के श्रीअङ्ग में व्यथा पहुँचाते होंगे। यह सोचकर वह झट से भगवान् के समीप आये। मोतियें की मालाओं से सुसज्जित, जिसको तानों में भी हीरा-मोती जड़े हुए हैं और दण्ड में अनके प्रकार के बहूमूल्य रत्न जड़े हुए हैं और ऐसे हंस के पङ्खों के समान शुभ्र श्वेत राजसी छत्र को अर्जुन ने भगवान् पर लगाया, जब अर्जुन छत्र लेकर वासुदेव के पीछे खड़े हो गये, तब एक ओर उद्धव और दूसरी ओर से

सात्विकी कृष्ण और श्वेत गङ्गा-यमुनी चँवरों को डुलाने लगे। उस समय भगवान् ऐसे प्रतीत होते थे, मानों जल भरे हुए नूतन मेघ के ऊपर सूर्य उगा हो और एक और सफेद बादल का टुकड़ा तथा दूसरी ओर कृष्ण बादल उसे घेरे हुए हों इस प्रकार भगवान् की विचित्र सवारी नगर की सभी मुख्य-मुख्य सड़कों से होकर आगे बढ़ने लगी।

भगवान् ने अनुपम सौन्दर्य तथा माधुर्य को देखकर मनोरमायें मुग्ध हो गयीं। वे परस्पर में भगवान् के ही गुणों का वर्णन कर रही थीं। वे सभी मानों वेद की श्रुतियाँ साकार स्वरूप धारण करके, परात्पर प्रभु के गुणगान में लगी हों। उनकी स्तुति बड़ी ही सार गर्भित थी। मुनियों! भगवान् की विदाई के समय पुराण पुरुषोत्तम प्रभु की जो स्तुति पुरवासिनी नारियों ने की सचमुच ही वह श्रुतियों का सार है। अतः यहाँ उसका विस्तार से वर्णन करने का अवसर नहीं है। यदि उसका अब वर्णन करते हैं तो भगवान् को भी रास्ते में खड़े-खड़े कष्ट होगा और हमारी कथा का प्रवाह भी रुक जायगा। द्वारका शीघ्र पहुँचने की जो उत्कण्ठा है, वह भी पूरी न होगी। अतः उस स्तुति का वर्णन प्रसङ्गानुसार फिर किया जायगा। अब तो सरलता के साथ सवारी के साथ-साथ इधर-उधर विहङ्गम दृष्टि डालते हुए चले। वे हस्तिनापुर की नर-नारियाँ नटनागर नन्दनन्दन की उन प्रिय पत्नियों की प्रशंसा कर रही थीं जिन्हें पुरुषोत्तम की प्रेयसी होने का देव-दुर्लभ पद प्राप्त हुआ है। वे परस्पर में कह रही थीं—"सखियों! श्यामसुन्दर का कैसा त्रैलोक्य मोहन रूप है! इनका कैसा अद्भुत सौन्दर्य माधुर्य है। सखियो! वे स्त्रियाँ धन्य हैं, जिनका पाणिग्रहण करके वासुदेव ने अग्नि प्रदक्षिणा की होगी। हाँ, उनके सौभाग्य की सराहना शेष अपने सहस्र फणों से सृष्टि के अनन्तकाल तक नहीं कर सकते। वे भाग्यशाली बहिनें, इन श्यामसुन्दर के अरुण वर्ण के चिकने चरणों को अपने कर-कमलों से धोती होंगी और उस त्रैलोक्य पावन पय का प्रेमपूर्वक पान करती होंगी। इनके इन काले-काले घुँघराले बालों में सुगन्धित तेल डालती होंगी। सुन्दर अङ्गराग इनके श्रीअङ्ग में लगाती होंगी। अनेक औषधियों से युक्त निर्मल जल से स्नान

कराती होंगी। उनकी ओर ये जब मन्द-मन्द मुस्कुराकर उनका मान रखते होंगे, तब वे अपने जीवन को धन्य-धन्य समझती होंगी। हाँ। ऐसा सौभाग्य किस तपस्या से, किस व्रत से, किस नियम से, किस संयम से, किस अनुष्ठान से प्राप्त हो सकता है। स्त्री जाति को एक तो वैसे ही स्मृतिकारों ने हेय माना है। फिर उसका भी पाला किसी प्रेम हीन पुरुष से पड़ जाय, तो कहना ही क्या? उसकी दुर्दशा ही है, किन्तु इन कृष्णपत्नियों ने तो स्त्री जाति का मुख उज्वल कर दिया है। जिस स्त्री ने अपना सर्वस्व नन्दनन्दन को अर्पण कर दिया, जिनका सम्बन्ध श्यामसुन्दर के साथ हो गया, जिन्होंने अपना सुहृद, सम्बन्धी सर्वेश्वर श्रीकृष्ण को समझ लिया, वे तो त्रैलोक्य में पूजित, ब्रह्मादि देवताओं द्वारा वन्दित बन गई। स्त्री शरीर से यही एक सुकृत बन सकता है कि वह स्वयं भगवान् की भक्ति करें और भगवद् भक्त पुत्र पैदा करे। नहीं तो स्त्रियों को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त क्लेश-ही-क्लेश हैं। यदि पति रूप परमात्मा में प्रेम हुआ, यदि भगवद् भक्त पुत्र हुआ, यदि हृदय में भक्ति रस का सञ्चार हुआ, तब तो स्त्री जन्म सार्थक है नहीं निरर्थक तो है ही। इस प्रकार रथ के शनैः-शनैः चलने के कारण श्यामसुन्दर भी सुन्दरियों के इन सम्वादों को सुनते जाते थे और बीच-बीच में मन्द-मन्द मुस्कारते हुए, उनकी ओर देखते भी जाते थे। जिधर ही भगवान् की दृष्टि उठती, उधर ही उन्हें कङ्कण और नूपुरों की खनखनाहट के साथ पुष्पों की होती हुई वर्षा दिखाई देती। उस समय समस्त ओखे, मोखे, जाली, झरोखों से शब्द सुनाई देने के कारण नगर के सभी भवन सजीव से दिखाई देते थे। मानों मूर्तिमान् नगर साकार शरीर धारण करके श्यामसुन्दर का सहस्रों कण्ठों से वाद्यों के सहित गुणगान कर रहा हो। इधर तो स्त्रियाँ गीत का रही थीं। उधर वेदज्ञ ब्राह्मण वेदघोष के सहित सृष्टि, स्थिति, संसार के स्वामी वासुदेव को भांति-भाँति के आशीर्वाद दे रहे थे। जो सगुण स्वरूप के तो अनुरूप कही जा सकती है, पर निर्गुण निराकार रूप के अनुरूप थीं।

अब सवारी नगर के बाहर निकल गई। छोटे-छोटे बच्चे, बहुत बूढ़े-

बूढ़े ये सब लोग साथ चलने में असमर्थ होने से वहीं खड़े होकर देखने लगे। चतुरङ्गिणी सेना की उठती हुई यज्ञधूम के समान धूलि ने, भगवान् के रथ को ढक लिया। आगे चलकर एक छोटा-सा जल प्रपात दिखाई दिया। श्यामसुन्दर ने सारथि से रथ रोकने को कहा। प्रभु की आज्ञा पाते ही सारथि ने तुरन्त घोड़ों की राश खींचकर रथ रोक दिया। भगवान् बड़ी शीघ्रता से रथ से उतरे। भगवान् को रथ से उतरते देखकर संभी साथ वाले अपने-अपने वाहनों से उतरकर भगवान् को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये। भगवान् ने धर्मराज से कहा—"राजन्! अब आप लौट जायँ। देखिये, शास्त्रकारों ने अपने प्रियजनों को जल तक पहुँचाने का विधान बताया है। जिनके लौटने की शीघ्र आशा हो उन्हें दूर तक पहुँचाने नहीं जाना चाहिये। ये सब लोग नगर से बहुत दूर आ गये हैं। अतिकाल भी हो गया है। वियोग तो अवश्यम्भावी है, अब अधिक नहीं देखा जाता। आप अपने बन्धु-बान्धवों और स्वजनों के साथ लौट जायँ।"

इतना कहकर भगवान ज्यों ही धर्मराज के चरणों की ओर झुके त्यों ही धर्मराज ने उन्हें हृदय से लगा लिया। फिर क्रमशः सभी को भगवान् ने हृदय से लगाकर सबका यथोचित सत्कार करके लौटा दिया। भग्वान् की आज्ञा शिरोधार्य करके धर्मराज अपने बन्धु बान्धवों के साथ लौट गये। किन्तु भगवत् विरह को सहन कने में असमर्थ कुन्तीनन्दन अर्जुन नहीं लौटे। वे भगवान् के साथ-ही-साथ द्वारका के लिये चले। महाराज युधिष्ठिर हस्तिनापुर में आकर अन्यमनस्क भाव से अपना राज-काज करने लगे।

इधर भगवान् अतुरङ्गिणी सेना के सहित पृथ्वी को अपने प्रभाव से कँपाते हुए पथ के ग्राम, नगर देश और पुरों को अपनी पदधूलि से पावन बनाते हुए आगे बढ़े। राजाओं ने जब सुना कि श्यामसुन्दर अब महाभारत से निवृत्त होकर, धर्मराज को सम्राट बनाकर, द्वारावती की ओर जा रहे हैं, तो सभी रास्ते में पहिले ही से आगे आकर भगवान के स्वागत सत्कार की तैयारियाँ करने लगे। किसी की राजधानी रास्ते से बहुत दूर थी। वह अत्यन्त आग्रह करके भगवान् को अपनी राजधानी में ले गया। किसी की नगरी तो दूर थी, किन्तु

राज्य की सीमा होने से वहीं उन्हें स्नेहवश लिवा गया। सभी की हार्दिक इच्छा थी कि हमारा राज्य भगवान् की पद रज से पावन हो जाय। उन राजाओं में बहुत से ऐसे भी थे जिन्हें अथवा जिनके पिता पितामह को भगवान् ने जरासन्ध के बन्दी गृह से छुड़ाया था। वे सब कृतज्ञतावश भगवान् को अपने राज्य में ले जाने को लालायित थे। इसीलिये भगवान् की सवारी बहुत घूम-घामकर रास्ते से दूर देशों में भी होकर गई। कुरु जङ्गल देश से चलकर कुरुक्षेत्र, सारस्वत, पाञ्चाल, शूरसेन, यामुन, ब्रह्मावर्त, मत्स्य, मरुधन्व, आदि देशों को पावन करते हुए सौवीर आभीर देशों के नगर, ग्राम, वन, पर्वत और विकट वनों को अपनी पद रज से पवित्र बनाते हुए, भगवान् अपने आनर्त देश में पहुँच गये।

देश वासियों ने जब सुना कि भगवान आ रहे हैं, तो अपने-अपने हाथों में अनेक प्रकार के उपहार लिये हुए भगवान् के सम्मुख आये। इतनी दूर चलने के कारण सभी घोड़े वाहन थक गये थे। सारथि और सैनिक भी शिथिल हो गये थे। भगवान् भुवनभास्कर भी अस्ताचल में प्रस्थान करने को प्रस्तुत थे। उसी समय सन्ध्यावन्दन करने के लिये वासुदेवनन्दन द्वारिकापुरी के निकट ही ठहर गये।

छप्पय

नयन नीरतें धूरि कीच भइ चली सवारी।
पीछे पुरजन पाण्डु पुत्र अति चले दुखारी।।
साग्रह सब लौटाइ सैन संग श्याम सिधारे।
पथके नृप नर-नारि निरखि अति भये सुखारे।।
पद रजतें पावन करत, देश नगर पुर बन विकट।
पहुँचे प्रभु सन्ध्या समय, दिव्य द्वारिकाके निकट।।

द्वारावती में स्वागत की धूमधाम

(३७)

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाऽच्युत।।*

(श्री० भा० १ स्क० ११ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

पाञ्चजन्यको शब्द सुन्यो अति भये सुखारे।
स्वागतको सामान सजायो सबहिं सिधारे।।
नगर द्वार गृह द्वार मार्ग सब सुघड़ सजाये।
दधि, अक्षत फल लाइ, सजल घट दीप जराये।।

---

* भगवान् को चिरकाल में लौटा हुआ देखकर पुरवासी कह रहे हैं—"हे कमलनयन! जब आप अपने आत्मीय बन्धुओं से हमने हस्तिनापुर तथा मथुराजी चले जाते हैं, तब उसके बिना हमारा एक-एक खण कोटि-कोटि वर्षों केबराबर व्यतीत होता है। क्योंकि हे अच्युत! जेसे नेत्रों के रहते हुए यदि सूर्य न हों तो वे व्यर्थ ही हैं। उनसे कोई काम नहीं हो सकता। उसी प्रकार आपके बिना हम द्वारावती में रहते हुए भी बेकाम से बने रहते हैं।

रथमें शोभित श्याम सिर, छत्र श्वेत माला गले।
नयन सफल सबके करत, हरत चित्त चितवत चले।।

अपना प्रेमास्पद चिरकाल में कहीं से आता है तो हृदय में हर्ष की एक बाढ़-सी आ जाती है, चित्त चाहता है, इसे आँखों से पी जायँ। हृदय चाहता है इसे अपने में मिला लें। मन में आती है, रास्ते में अपने पलकों के पाँवड़े बिछा दें, जिस पर प्रियतम के पाद-पद्म पड़ें। शरीर चाहता है इसे लिपटाकर एक कर लें। उस समय एक विचित्र ही दशा होती है, जो मानवीय भाषा में वर्णन नहीं की जा सकती।

आनर्त देश की सीमा पर पहुँचकर प्रभु ने अपना पाञ्चजन्य नाम का यशस्वी शङ्ख बजाया। उस समय प्रभु की शोभा अतुलनीय थी। कोमल-कोमल कमल के सदृश सुहावने, चिकने, मृदु लाल-लाल युगल करों में उठाकर बिम्बाफल के समान अरुण अधरों पर रखकर उस दुग्ध के फेन के समान श्वेत शङ्ख में फूँक मारी। फूँक मारते ही वह बोलने लगा। उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानों खिले हुए अरुण कमल पर बैठा हुआ राजहंस शब्द कर रहा हो। समस्त आनर्त देश के नर-नारी पाञ्चजन्य के शब्द से परिचित ही थे। सुनते ही समझ गये कि श्यामसुन्दर आ गये। शङ्ख के शब्द को सुनते ही सभी उसी प्रकार भगवान् की ओर दौड़े जैसे छोटे-छोटे बच्चे विदेश से अपने पिता का आते हुए देखकर उसकी गोदी दौड़ते हैं। गङ्गाजी के समीप पहुँचकर हम अपना भक्ति भाव दिखाने के लिये उन्हीं का जल लेकर "गङ्गाजी को नमस्कार है, यह हमारा पाद्य ग्रहण करो" ऐसा कहकर गङ्गाजल से ही पाद्य देते हैं। आचमन, स्नान के लिये जल देते हैं। सूर्यदेव की पूजा करते समय त्रैलोक्य के प्रकाशदाता को हम दीपक दिखाते हैं। यद्यपि ये बातें हास्यास्पद हैं। चुल्लू भर गङ्गाजल से ही गङ्गाजी को जल पिलाने से क्या उनकी प्यास बुझ जायगी? क्या विश्व के प्रकाशक सविता को क्षुद्र दीपक प्रकाशित कर सकेगा, किन्तु हम अपनी भक्ति भी तो किसी प्रकार प्रकाशित करें। इसी प्रकार प्रजाजन भी उन सम्पूर्ण सामग्रियों के स्वामी, अपनी आत्मा में

ही रमण करने वाले सर्वथा परिपूर्ण भगवान् वासुदेव के लिये, फल फूल तथा अन्य प्रकार के और भी उपहार भेंट कर रहे थे। उन सबने अपनी भक्ति दर्शाते हुए भगवान् की स्तुति की।

वे सब श्यामसुन्दर को ही अपना माता-पिता, सुहृद्, सखा, स्वामी, सद्गुरु और एकमात्र देव समझते थे। उन प्रजाजनों के लिये जगत् के सभी सम्बन्ध देवकीनन्दन के ही सम्बन्ध से थे। उनके एकमात्र आश्रय भगवान वासुदेव ही थे। बड़े ही स्नेह से अपने हृदयवल्लभ, परमधन, द्वारकाधीश के सम्मुख आकर कहने लगे—"प्रभो! आप आ गये, बड़ा मङ्गल हुआ। हम सब प्रतिक्षण आपकी प्रतीक्षा करते थे। जिस चरणाविन्दों में पितामह ब्रह्मा, दक्षादि प्रजापति, सनकादि, योगीन्द्र, देवराज इन्द्र तथा सभी लोकपाल नत मस्तक होकर अपने मुकुटों की मणियों से आपके अरुण नखों को प्रकाशित करते हुए प्रणाम करते हैं, आज उन्हीं पादपद्मों में प्रणाम करके हम सब कृत-कृत्य हो गये। हे अशरण-शरण! आप ही हमारे शरणदाता हैं। आप ही हमारे सर्वस्व हैं। हम अपने को देवताओं से भी श्रेष्ठ समझते हैं, क्योंकि देवताओं को तो आपके चरणारविन्दो के दर्शन कभी-कभी ही होते हैं और हम जब आप द्वारका में निवास करते हैं तो नित्य ही दर्शन करके अपने नयनों को सफल करते हैं।"

इस प्रकार प्रजा के लोगों की स्तुति सुनकर यादवेन्द्र मुस्कराये और जैसे पिता पुत्रों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार प्रगाढ़ प्रेम प्रदर्शित करके उन्होंने उन सबका अभिनन्दन किया, सभी को सभी प्रकार से सान्त्वना दी। अब भगवान् ने अपनी उस प्यारी पुरी द्वारावती में प्रवेश करने का विचार किया, जिसकी उपमा चौदह भुवन की पुरियों में से किसी से नहीं की जा सकती। द्वारका एक तो वैसे ही चारों ओर से समुद्र से सुन्दर सलिल से घिरी हुई थी। यह समुद्र के बीच में ऐसी दिखाई देती थी, जैसी सृष्टि के आदि में सलिल में पड़ा हुआ हिरण्यमय ब्रह्माण्ड। वह सभी सुवर्ण की बनी हुई थी। देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा ने अपनी समस्त कारीगरी का कौशल इसमें प्रदर्शित किया

था। दस योजन में बसी हुई वह पुरी अमरावती से भी बढ़कर थी, उसके सभी भवन सुवर्णमय थे। चारों ओर सुवर्ण और मणियों से चित्रित परकोटा था। उसमें भगवान् के वंश के बड़े-बड़े बली और सभी समृद्धियों के सम्पन्न माध, भोज, दाशार्ह, कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशी यादवों के पृथक्-पृथक् समूह सुखपूर्वक निवास करते थे। समुद्र के ऊपर जाने-आने के लिये ऐसा विचित्र पुल था, जिसे जब चाहें हटा लें, जब चाहें लगा दें। उस पुल को पार करके एक बड़ा भारी गोपुर था। वह दूर से ऐसा प्रतीत होता था, मानों सुवर्ण का सुमेरु पर्वत खड़ा हो। सुवर्ण के बीच-बीच में स्फटिक पद्मराग आदि मणियों की विचित्र कारीगरी की गई थी। वे मणियाँ अन्धकार में भी ऐसी देखाइ देती थीं, मानों आकाश में एक साथ सैकड़ों सूर्य और चन्द्रमा उदित हो गये हों। उसका बड़ा फाटक मतवाले हाथियों के मस्तकों के प्रहार से भी नहीं हिलता था। गोपुर (मुख्य द्वार) से एक बहुत विस्तृत राजपथ था, जिसके चारों ओर चन्दन, मौलश्री, अशोक, पारिजात आदि के दिव्य सुगन्धित पुष्प लगे हुए थे, जिनकी सुवास योजनों तक वायु के साथ-साथ दौड़ जाती। राजपथ के अगल-बगल बीच-बीच में ऐसे उद्यान थे, जिसमें सभी ऋतुओं के फल सदा ही फले रहते थे। कोई चाहो तोड़कर खाओ। किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं थी। सभी वृष्णिवंशी वीरों के महलों के सामने छोटे-छोटे उपवन थे। उनमें भाँति-भाँति के स्वर्ग से लाकर पुष्पों के वृक्ष लगाये गये थे। सुवर्ण की दण्डियों से छोटै-छोटे दरवाजे बनाकर उन पर लतायें चढ़ाई गई थीं। सघन फूली हुई लताओं के कारण वे कमनीय कुञ्जें, कामदेव की क्रीड़ास्थली-सी प्रतीत होती थीं। ऐसा कोई भवन नहीं था, जिनके आगे उत्तम उपवन न हो। नगर के बाहर बड़े-बड़े आराम थे, जिनमें हरी-हरी दूब ऐसी प्रतीत होती थी, मानो हरी मखमल का गुदगुदा गलीचा बिछा हो। उनमें यदुवंशी बालक, वृद्ध, युवा आ-आकर क्रीड़ायें किया करते थे। कुछ आराम पुरुषों की क्रीड़ा के थे, कुछ कामिनियों के आमोद प्रमोद के लिये सुरक्षित थे। उसमें पुरुषों का प्रवेश निषिद्ध था। कुछ ऐसे भी आराम थे, जिनमें स्त्री-पुरुष साथ-साथ विहार

करते थे। आरामों के बीच-बीच में छोटे-छोटे सरोवर थे, जिनमें सब ऋतुओं के, सब जाति के कमल खिल रहे थे। हंस, सारस, चक्रवाक, जल-कुक्कुट आदि जलपक्षी विहार कर रहे थे। सर्वत्र सुगन्धि फैली हुई थी। फलों की कमी नहीं थी। पुष्प पृथ्वी पर पड़े हुए थे जिनसे पृथ्वी भी सुगन्धित हो गई थी। ऐसी समृद्धिशालिनी पुरी में यदुवंशी बड़े सुख से दिन व्यतीत कर रहे थे। उन्हें सभी प्रकार के सुख थे। किसी भी वस्तु का उन्हें अभाव नहीं था कोई भी चिन्ता उन्हें नहीं थी। केवल श्रीकृष्ण वियोग रूपी ज्वाला में वे रात्रि-दिन जल रहे थे। जब उन्होंने सुना कि श्यामसुन्दर आ गये, तो पाञ्चजन्य शङ्ख का घोष सुनकर उनका संकुचित कमल रूपी मन उसी प्रकार खिल गया जैसे सूर्य के उदित होने पर सरोवर में स्थित कमल खिल जाते हैं।

भगवान् के स्वागत में सभी ने अपनी सभी प्रकार से सजी हुई नगरी को ओर से अधिक सजाया। गोपुर और प्रधान-प्रधान द्वारों पर झण्डे, पताकायें तथा वन्दनवारें बाँधी गईं। सर्वत्र सड़कों पर सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया। स्थान-स्थान पर कपूर, गुग्गुल और घृत मिलाकर जलाया गया, जिसका धूम्र आकाश में कपोतों के समान दिखाई देता था। राजपथ और सार्वजनिक स्थान तो राज्य की ओर से सजाये गये थे, किन्तु अपने-अपने घरों को सभी ने स्वयं ही अपनी इच्छा से—बिना किसी की आज्ञा के—ही सजाया था। सभी ने अपने घरों को झाड़-बुहारकर स्वच्छ किया था। उसके सामने सुन्दर सुगन्धित जल छिड़काव करके सफेद, हरे, काले रङ्गों से स्वस्तिक आदि बनाकर चौक पूरे थे। उसके आस-पास सुगन्धित पुष्प बिछाये थे। द्वारों पर आम, अशोक, कनेर आदि के पल्लवों को लगाकर पुड़े हुए दरवाजे बनाये थे। उनमें बीच-बीच में पुष्पों के गुच्छे लगाकर बन्दनवार बाँधे थे। केलों के फल वाले वृक्षों के खम्भे गाड़ दिये थे। दोनों ओर जल से पूर्ण घड़े रखकर उन पर अंकुरित जौ रखे थे। ऊपर घी के दीपक जल रहे थे। एक बड़े थाल में खील के लावा, दधि, बिना टूटे केशर मैं रँगे अक्षत, कुंकुम, फल, फूल, दूर्वा, धूप, दीप आदि मङ्गल के पदार्थ रखे थे। ईख के पत्तों सहित गन्ने, केले के

खम्भों से सटाकर खड़े कर दिये थे। इस प्रकार सभी ने श्यामसुन्दर के स्वागत की तैयारियाँ की थीं। उस समय द्वारावती नगरी चित्र-विचित्र रङ्ग के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नव वधू के समान दिखाई देती थी।

भगवान् का आगमन सुनते ही सभी ने अपने-अपने काम उसी प्रकार छोड़ दिये जैसे विवाह के वाद्यों का शब्द सुनकर, बच्चे सभी कार्य छोड़कर उन्हें ही देखने को दौड़ पड़ते हैं। जो भोजन कर रहा था, उसके मुख का ग्रास मुख में, हाथ-का-हाथ में ही हैं, बिना कुल्ला किये दौड़ पड़े। जो शैया पर शयन कर रहे थे, वे बिना आचमन किये ही भाग खड़े हुए। जो नहा रहे थे, वे गीले वस्त्रों से ही दौड़े। सभी मारे हर्ष के अपने आपे में नहीं रहे। नाना उग्रसेन, पिता वसुदेव, चाचा अक्रूर, भाई बलदेव—ये सभी बड़े हर्ष के सहित भगवान् के स्वागत के लिये नगर द्वार की ओर चले। बलदेवजी ने अपने पुत्रों और भतीजों से कहा—"देखों, तुम लोग मङ्गल के सभी द्रव्य एकत्रित करके लाओ। अपना जो सबसे बड़ा हाथी है, उसे सजाकर उस पर विशाल पताका फहराकर स्वागत समारोह के आगे-आगे रखो। बाजे वाले अभी तक सुसज्जित होकर नहीं आये। उन सबके सरदार से कहो कि हाथी के पीछे-पीछे वे सब एक स्वर ताल में बाजे बजाते चलें।"

बलदेवजी की आज्ञा पाकर प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, साम्ब आदि सभी नवयुवक, वृद्ध ब्राह्मणों को आगे करके अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर, अत्यन्त उत्कण्ठा के सहित भगवान् का स्वागत करने चले। उस समय सभी इतने व्यग्र हो रहे थे कि किसी को किसी से कुछ कहने का अवकाश ही नहीं था। राज्य के जो नट, नर्तक गाने बजाने वाले थे, वे भी अपनी-अपनी मण्डली बनाकर गाते-बजाते, हर्ष से नृत्य करते हुए यादवेन्द्र श्रीहरि के दर्शनों को चले।

दूर से ही सबने देखा—"जैसे सूर्य के रथ पर साकार नव जलधर विराजमान हो, उसी प्रकार श्यामसुन्दर अपनी शोभा से दशों दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे। अपने बन्धु-बान्धवों को व्यग्रता के सहित अपनी हीं ओर आते देखकर भगवान् रथ से उतर पड़े। उन्होंने पहिले वेदज्ञ वृद्ध ब्राह्मणों

को सिर से प्रणाम किया, फिर वसुदेव, उग्रसेन आदि पूज्यजनों के चरण छुये। जो अपने समवयस्क या थोड़े बड़े चाचा आदि थे, उन्हें हँसते हुए वैसी ही वाणी से प्रणाम किया। बराबर वालों से वे गले लगकर मिले। जो अपने सङ्कोच रहित सखा थे उनसे हाथ मिलाया। उनके पञ्जे को अपने पञ्जे में कसकर उसे जोर-जोर से मसला और फिर हँसते हुए उनके शरीर से लिपट गये। जो उनके छोटे भाई, पुत्र, पौत्र आदि थे उन्होंने स्वयं आकर भगवान के चरण छुए। उनके सिर पर हाथ फेरकर भगवान् ने सबको यथोचित आशीर्वाद दिया, प्यार किया। जो अपने सेवक, भृत्य और आश्रित थे उन्होंने दूर से ही भगवान् को प्रणाम किया। उनसे हँसते हुए भगवान् ने पूछा—"कहो भाई! तुम सब अच्छी तरह से हो न?" जो गाने, बजाने, नाचने वाली सुन्दर युवतियाँ थीं, उनको प्रणाम के बदले में भगवान् ने उनकी ओर देखकर केवल मुस्करा दिया। उनका यही सर्वोत्तम सम्मान था। इस प्रकार इन सर्वान्तर्यामी प्रभु ने थोड़े ही काल में ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त, अपने समस्त प्रजा का यथोचित सत्कार किया। उस समारोह में एक भी पुरुष ऐसा नहीं था जिसे यह अनुभव होता हो, कि भगवान् ने हमारी बात नहीं पूछी। सभी समझते थे कि भगवान् ने हमारा ही सबसे अधिक सत्कार किया।

सबका सम्मान करने के अनन्तर अब भगवान् की सवारी ने द्वारका के राजमार्ग में प्रवेश किया। आगे-आगे पहाड़ के समान विशाल वारणेन्द्र चल रहा था। उस पर विशाल पताका फहरा रही थी। पीछे अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। नृत्य करने वाली अपने हाव-भाव दिखाती हुई आगे-आगे नृत्य करती जाती थीं। गायक ताल-स्वर के सहित गीत गाते जाते थे। सूत, मागध और बन्दीगण भगवान् की विरुदावली का बखान कर रहे थे। बीच-बीच में समस्त पुरवासी भगवान के जयघोष से आकाश मण्डल को गूँजा देते थे। इस प्रकार बड़े समारोह के साथ भगवान् की सवारी आगे बढ़ने लगी। द्वारकापूरी की कुल कामिनियाँ जो सबके सामने सड़कों पर नहीं आ सकती थीं, वे अपनी अटा अटारी छज्जे तिवारियों में चढ़कर भगवान् के दर्शनों से अपने नेत्रों को

सफल करने लगीं। कितना सौन्दर्य है उन श्यामसुन्दर का, कैसे मनोहर हैं वे मदनमोहन, कितने सुघर हैं, वे सर्वेश्वर, कितने मलूक हैं वे माधव मुरारी—स्त्रियाँ जिन्हें देखते-देखते अघाती नहीं थीं। रूप उसी को कहते हैं जो क्षण-क्षण में नूतन-ही-नूतन दे, जिसका सौन्दर्य माधुर्य, प्रतिपल बढ़ता ही प्रतीत हो। यद्यपि वे कुलकामिनियाँ सदैव ही श्यामसुन्दर को देखती थी, सदा ही उन्हें अपने नयनों से निहारा करती थीं तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती थी। कैसा विशाल वक्षःस्थल है वासुदेव का, जिसमें श्रीवत्स का चिह्न है, लक्ष्मी चञ्चलता छोड़कर जिसमें निवास करती हैं। उनका मुख सौन्दर्य रूपी अमृत के पीने का गोल-गोल नील मणियों से मढ़ा हुआ कटोरा है, जिसमें भर-भरकर बार-बार अमृत पीने पर भी तृप्ति नहीं होती। उनकी आजानुलम्बित विशाल बाहुएँ लोकपालों की आश्रयदात्री हैं। वे सब इन्हीं के सहारे अपने को स्वतन्त्र और सुखी समझते हैं। जिनके पुण्य पराग से पूरित पादपद्म, भौंरे रूपी भावुक भक्तों के रस पान करने की आश्रय भूत हैं, उन्हें देखकर भला किसकी तृप्ति हो सकती है।

उस समय वर्षा ऋतु न होने पर भी द्वारका में वर्षा ऋतु की ही छटा दिखाई देती थी। स्वयं श्यामसुन्दर अमृत रूपी जल से भरे नवीन वर्षा करने वाले मेघ हैं। नगर वासियों और कुलकामिनियों द्वारा फेंके गये उनके ऊपर जो नीचे गिरते हैं, वे ही सफेद जल की बूँदे हैं। सुवर्ण वर्ण का उनका फहराता हुआ पीताम्बर ही मानों चमकती हुई बिजली है। रङ्ग-विरङ्गी गले की वनमाला ही मानों इन्द्र धनुष है। जनता का जयघोष की मानों मेघ की गर्जना है और भीड़ के पैरों की उड़ी हुई धूलि ही मानों अन्धकार है। इस प्रकार वे घनश्याम अमृत की वर्षा से सभी को प्रसन्न करते हुए द्वारका के राजपथों से जा रहे थे। नगर वासी बार-बार दर्शन करके भी तृप्त नहीं हो रहे थे—वे चाहते थे भगवान् इसी प्रकार सवारी पर चढ़े हुए सदा राजपथों में घूमते ही रहें, किन्तु अन्तःपुर में बैठी हुई भगवान् की पत्नियों के कानों में उन वाद्यों का बजना और जनता का जयघोष शूल के समान चुभ रहा था। वे चाहती थीं—कब यह

धूमधाम समाप्त हो और कब प्राण धन अन्तःपुर में पधारें। वे कुलबधू, आर्य ललनायें न तो सड़क पर आ सकती थीं, न झरोखे से ही ताक सकती थीं, वहीं मन मारे मदनमोहन के आगमन की प्रतीक्षा करने लगीं। अब तक श्यामसुन्दर परदेश थे अतः उनकी सभी पत्नियाँ क्रीड़ा, शरीर संस्कार, समाजोत्सव दर्शन, हास्य और परगृह गमन, इन सबका त्याग—जो प्रोषितभर्तृका के नियम हैं, वे धारण किये हुए थीं। आज जब श्यामसुन्दर पुरी में पधार गये, तो उन्होंनं अपने व्रत का त्याग किया। विधिवत् स्नान करके केशपाशों को सम्हाल कर सोलहों श्रृङ्गार किये वे अपने प्राणनाथ के दर्शनों के लिये अत्यन्त ही उत्कण्ठित हो रही थी। उनका एक-एक क्षण युग के समान व्यतीत हो रहा था।

छप्पय

नव जलधर सम श्याम सुमन वर बरसा बरसें।
जनता करि जय घोष दरशतें अति ही हरसें।।
श्याम अङ्ग पटपीत गरे बनमाला सोहै।
मानों घनमें तड़ित इन्द्र धनु मनकूँ मोहै।।
प्रेम सुधा बरसावते, हियमें सुख सरसावते।
पुरवासिनि हरसावते, सुने श्याम गृह आवते।।

अन्तःपुर में घनश्याम

(३८)

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्
निरुद्धमप्यास्त्रवदम्बु नेत्रयो-
विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लयात्।।*

(श्री० भा० १ स्क० ११ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

अति उत्कण्ठित महलमाहिं महिषी माता सब।
आवें प्रिय यदुनाथ पुरावें चिर आशा कब।।
इतनेमें घनश्याम महल माता के आये।
सब मातानिके मृदुल चरनमहँ शीश नवाये।।

---

* श्रीनिवास श्यामसुन्दर जब माता के महलों से अपनी महिषियों के मन्दिरों में गये, तो गूढ़ भाव वाली लज्जाशील कुलवती ललनाओं ने पहले अपने प्रियतम का मन से आलिङ्गन किया, पुनः टेढ़ी चितवन से उनकी आँखों में अपनी दृष्टि घोलकर एकीभाव को प्राप्त हुई। इसके अनन्तर बच्चों के द्वारा उनका आलिङ्गन किया। सूतजी कहते हैं—"हे शौनकजी! यद्यपि उन्होंने अपने नयनों के उमड़ते हुए अश्रु प्रवाह को बहुत रोका, तो भी वे लज्जावश लुढ़क ही पड़े।"

अङ्क लाय सिर सूँघि सब, प्रेम वारि बरसा करति।
चूमि चाटि गौ वत्स जिमि, विरह विथा हियकी हरति।।

प्रतीक्षा की घड़ियाँ कितनी मनोहर, कितनी विकलता पैदा करने वाली, कितनी तन्मयता प्राप्त करा देने वाली होती हैं। उस समय दृष्टि में वही रहता है, जिसकी प्रतीक्षा की जाती है। उस काल में अन्य सभी राग-रङ्ग सुखकर विषय फीके प्रतीत होते हैं। किसी को पार जाने की शीघ्रता हो, फाल्गुन का मास हो, नौका वाले अपने राग-रङ्ग और आमोद-प्रमोद में मस्त हों, समय होने पर भी नौका न खुली हो, तो उस समय उस पार जाने वाले पथिक का एक-एक क्षण एक-एक कल्प के समान व्यतीत होता है। जो समय दूसरों को सुखकर है वही पात्र भेद से आवश्यकतानुसार दूसरों को दुखकर है। जो कार्य एक को आनन्द दे रहा है, परिस्थिति के अनुसार वही दूसरों को निरानन्द बना रहा है। इससे सिद्ध होता है आनन्द किसी वस्तु में नहीं है। वस्तु तो सभी पञ्चभूतों की ही बनी हुई है। समय में भी आनन्द नहीं, वह तो सदा अपनी एक ही गति से बहता रहता है। आनन्द का स्थान है अपना अन्तःकरण और परिस्थिति। परिस्थितियों के अनुसार ही हृदय में आनन्द और निरानन्द की लहरें उठती रहती हैं। वाह्य उपकरणों का समष्टि सुख-दुख के साथ कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं।

महलों में श्यामसुन्दर की सातों मातायें, सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ प्रतीक्षा में बैठी व्यग्र हो रही थीं कि कब यह धूमधाम समाप्त हो ओर कब यदुनाथ महल में पधारकर हम सबको सनाथ करें। स्वयं श्यामसुन्दर भी चिर वियोग में दुःखी अपनी माताओं और पत्नियों से मिलने को उत्कण्ठित थे। सुधर्मा सभा के सम्मुख आकर वह समारोह समाप्त हुआ। भगवान् ने सभी का यथोचित सत्कार और सन्तोष करके सेवकों और आश्रितों को मनोवांछित पारितोषिक देकर विदा किया। पुनः सबसे मिलजुलकर, बड़ों की अनुमति और आयसु लेकर, उन्होंने उद्धव और सात्यकि के सहित अपने अन्तःपुर में उसी प्रकार प्रवेश किया जैसे सिंह अपनी गुफा में प्रवेश करता है। स्वजनों के

सम्मिलन से उनका पूर्णचन्द्र के समान विकसित मुखारविन्द और भी अधिक विकसित हो रहा था। सर्व प्रथम वे अपनी माताओं के महलों में गये। दूर से ही अपने वाह्य प्राण, हृदय के टुकड़े त्रैलोक्य वन्दित यशस्वी पुत्र को आते देखकर माताओं के हर्ष का ठिकाना न रहा। श्यामसुन्दर शीघ्रता से आकर माताओं के चरणों में लिपट गये। उन्होंने अपनी गोल-गोल, सुडौल, विशाल बाहुओं से अपनी माताओं के रक्त वर्ण किन्तु वृद्धावस्था के कारण सिकुड़े हुए पैरों को पकड़ा। माताओं ने उनका सिर झुकाकर सूँघा। उस पर दोंनो हाथ रखे। उनके स्तनों से अपने-आप स्नेह के दूध बहने लगा, जिससे श्यामसुन्दर का पीताम्बर भीग गया। अत्यन्त स्नेह से अपने बच्चे का उन्होंने आलिङ्गन किया। शिशु की भाँति गोद में बिठाकर उनके सम्पूर्ण शरीर पर हाथ फेरा। स्नेह के कारण जिनका गला रुक गयाथा, ऐसी माता देवकी कुछ रुक-रुककर बोली—"भैया, तुम तो इतने दिन लगा देते हो। हम सब लोगों का तुम्हें तनिक भी ध्यान नहीं रहता। तुम्हारे बिना हमारी क्या दशा होती है। तुम अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रखते, कितने दुबले हो गये हो। हस्तिनापुर में ऐसा क्या काम अटक गया कि वहाँ इतने दिनों तक रहे? वहाँ सब लोग कुशल से हैं? बीबी कुन्तीजी अच्छी हैं? उनके पाँचों बच्चे अच्छी तरह हैं? सुभद्रा तो बहुत रोती होगी, उसका युवा पुत्र मारागया। और सब लोग अच्छे हैं?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, सब लोग अच्छे हैं, क्या बताऊँ! वह दुर्योधन बड़ा दुष्ट था। बहुत समझाने-बुझाने पर भी वह पाण्डवों को उनका राज्य लौटाना नहीं चाहता था। पहिले तो मैंने ऐसा ही प्रयत्न किया कि दोनों में परस्पर मेल-जोल हो जाय, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं इस कार्य में सफल न हो सका! तब विवश होकर युद्ध करना पड़ा, उसमें सभी कौरवों के पक्ष के लोग मारे गये। पाण्डव विजयी हुए। अब धर्मराज सम्राट हो गये हैं। उन्हें सिंहासन पर बिठाकर, राज्य की सभी व्यवस्था करके ज्यों ही निवृत्त हुआ, त्यो ही चला आया। इन्हीं सब कार्यों के कारण देरी हो गयी।"

सब माताओं ने कहा—"अच्छा हुआ, भैया! पाण्डवों को फिर राज्य मिल गया। बीबी कुन्तीजी ने उनके पीछे कितने-कितने क्लेश सहे, कहाँ उन्हें जङ्गल, पहाड़ो में लिये-लिये फिरी, पाण्डवों ने सदा दुःख ही उठाये हैं। अब वे अन्त समय में सुख का उपभोग करेंगे। बीबी कुन्तीजी भी अब अपने बच्चों को सुखी देखकर सुखी होंगी।"

जो भगवान् की पत्नियाँ अत्यन्त ही उत्कण्ठित हो रही थी, जिनके हृदयों को महोत्सव के मनोहर बाजे भी विष बुझे बाणों के समान वेध रहे थे, उन्होंने जब देखा की प्राणवल्लभ तो माताओं के ही समीप अटक गये, माताओं के समीप वे कैसे अपने प्राणनाथ के समीप जा सकतीं? तब वे भीतर से ही बार-बार झाँकने लगीं, किन्तु उन्हें त्रैलोक्य मोहिनी माधुरी मूरत ओट में से अच्छी तरह दिखाई नहीं देती थी। मातायें और बूढ़ी दासियाँ उन्हें घेरे खड़ी थी श्यामसुन्दर का मुख भी माताओं की ओर था। केवल फहराते हुए पीताम्बर का छोर-ही-छोर दिखायी देता था। शौनकजी! आर्यललनाओं का कैसा उत्कृष्ट सदाचार है? वे अपने प्रेम का प्रदर्शन नहीं करती। वे उत्कण्ठा के साथ शील और लज्जा को मिलाकर प्रेम का पान करती हैं। वे निर्लज्य होकर सबके सामने प्रेम की विडम्बना नहीं करतीं। प्रेम ऐसा अद्‌भुत रस है कि इसे जितना ही शील संकोच के साथ जितना ही एकान्त-से-एकान्त में पान किया जायगा उतना ही अधिक स्वादिष्ट प्रतीत होगा। शील संकोच से उसकी मधुरिमा अत्यधिक बढ़ जाती है।

मातायें नूपुरों की झङ्कार और कड़े-छड़े पाइजेबों की खनखनाहट तथा चूड़ियों की झनझनाहट से समझ गयीं कि बहुएँ अत्यधिक उत्कण्ठित हैं अतः बात के प्रवाह को रोकती हुई देवकी जी बोली—"अच्छा भैया, अब फिर बात होंगी, इस समय तो तुम दूर से आये हो, बहुत थके होंगे। मुँह भी कुम्हला रहा है। अब भीतर जाओं, भैया! वस्त्र बदलो। स्नान आदि करके भोजन करने जाओ। अभी प्रातः से कुछ खाया भी न होगा।"

इतना कहकर मातायें स्वयं ही उठ खड़ी हुई। पास में खड़े उद्धव और सात्यकि माताओं को प्रणाम करके भगवान से अनुमति लेकर लौट गये। अब अकेले श्यामसुन्दर रह गये। महलों की दासियों और कंचुकियों ने उन्हें श्रीसत्यभामाजी के समस्त समृद्धि पूर्ण विशाल भवन का मार्ग दिखाया। दास-दासियों से घिरे श्यामसुन्दर ऐसे ही प्रतीत हो रहे थे, मानों साक्षात् मन्मथ अपनी सेना के सहित चिरवियोगिनी रति के पास जा रहा हो।

अपने हृदयधन को आते देखकर वे संभ्रम के साथ उठकर खड़ी हो गयीं। आर्य ललनाओं की भाँति लजाती हुई, भूमि की ओर देखती हुई, अञ्चल की आड़ से मनमोहन की माधुरी को निहारती हुई, चुपचाप खड़ी हो गयीं। उन्होंने बहुत चाहा कि नेत्रों से अश्रु न आने पावे, किन्तु आँखे भी तो कमलनयन के स्वागत के लिये समुत्सुक थीं। उन्हें भी तो अपने को सार्थक बनाने वाले मदनमोहन को अर्घ्य देना था। अतः रोकने पर भी वे न मानीं और उन्होंने अश्रु बिन्दुओं के द्वारा अपने सर्वस्व को अर्घ्य प्रदान कर ही डाला। जो अकुलनीय अनार्य वंश वाले होते हैं,वे ऐसे समय पर धैर्य और लाज दोनों को तिलाञ्जलि दे देते हैं, किन्तु आर्य सभ्यता ने सभी विषय की मर्यादा स्थापित कर दी है। सर्वदा मर्यादा की भीतर ही रहकर व्यवहार करना चाहिये।

इतने दिनों के पश्चात् आये हुए अपने स्वामी का आलिंगन कैसे करें? घर में बच्चे भी हैं, दासियाँ भी हैं। अतः स्त्रियों के जो सबसे छोटे शिशु थे, उन्हें सकुचाते हुए अपनी गोद से लेकर श्यामसुन्दर की गोदी में दे दिया। फूल की तरह खिले हुए मुख वाले अपने ही अनुरूप सुन्दर शिशु का श्याम सुन्दर ने स्नेह से आलिङ्गन किया, उनका मुँह चूमा। उँगली से उसके मुँह को हिलाते हुए कहने लगे—"देखो, बच्चा दुबला हो गया है, इसकी भली प्रकार देख-रेख भी नहीं की जाती है।" मुँह लगी दासी कहने लगी—"अपने पिता की याद करते-करते बच्चा दुबला हो गया है। पिता की गोद में पहुँचते ही कैसा खिल-खिलाने लगा है।" इस प्रकार बच्चे को हृदय से लगाकर समस्त प्रेम उस पर उड़ेलकर दोनों हाथों से लेकर उसे आगे बढ़ाया। समीप ही सकुचाती

और मन-ही-मन सिहाती हुई प्राणवल्लभा ने भी दोनों हाथ आगे कर दिये। बच्चे को लेते समय श्यामसुन्दर के नीलकमल के नाल के समान उँगलियाँ छूट गयीं। पीताम्बर में चुन्दरी का छोर उलझ गया और भूल में सिर की चन्द्रिका मोरकुकुट से भी सट गयी। बच्चे को लेकर उन्होंने अपने हृदय से लगाया, मानों प्रेम के आदान-प्रदान में यह शिशु ही मध्यस्थ है। बच्चे को प्यार करते समय, हृदय से लगाते समय, जो दिव्य सुगन्धित केशर उसके अङ्गो में लग गयी थी, उनकी माताओं ने अपने हृदयों पर धारण किया। इस प्रकार बच्चों को बीच में करके, मानों उन्होंने अपने जीवन धन का ही आलिङ्गन कर लिया हो।

इस प्रकार भगवान् एक श्रीरुक्मिणीजी के ही महलों में अटके रह गये हों, सो बात नहीं। उन्होंने उसी समय अपनी योगमाया के प्रभाव से सोलह हजार एक सौ आठ रूप बनाये और सभी के महलों में एक ही समय में प्रवेश किया। सभी को ऐसा प्रतीत हुआ कि देखो, श्यामसुन्दर मेरे ऊपर कितना स्नेह करते हैं। परदेश से आते ही सर्वप्रथम मेरे महलों में पधारे। मेरी सौतों को यह सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। उन्हें क्या पता था कि सभी को समान सौभाग्य प्रदान करने वाले सर्वान्तर्यामी प्रभु की यह लीला है।

शौनकजी! इस अवतार में तो भगवान् ने सौन्दर्य माधुर्य्य की पराकाष्ठा पार कर दी। जो भी उनके भुवनमोहन रूप को देखता, वही आपे से बाहर हो जाता था। फिर इन महारानियौं के भाग्य का तो कहना ही क्या, जिसके महलों में सदा श्यामसुन्दर समान रूप से निवास करते हैं। वे रानियाँ निरन्तर भगवान को निहारती हैं, किन्तु निहारने से उनकी तृप्ति नहीं होती, और भी उत्सुकता बढ़ती ही जाती है। उन्हें अनुक्षण उनका रूप नवीन-ही-नवीन दिखायी देने लगता है। यही कारण है कि इन्हीं चरणों में आकर चंचल चपला लक्ष्मी ने अपनी चञ्चलता का स्वभाव छोड़ दिया है। वह इन चरणों की गन्ध में इतनी अनुरक्त हुई हैं कि कभी स्वप्न में भी इन्हें छोड़कर नहीं जातीं। जब स्वभाव से चञ्चला लक्षमी की यह दशा है, तो अन्य महिषियों का जो जन्म से ही

उन्हीं में अनुरक्त हैं, ऐसा विलक्षण भाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस प्रकार सबको सब प्रकार के सन्तोष देकर भगवान् ने अपने वस्त्र बदले, स्नान किया, अंगराग लगाया और पुनः अनेक रूपों से अपनी पत्नियों के घर, माताओं के घर भोजन किया और रात्रि में फिर अपनी प्रेयसियों से बिना संकोच घुल-घुलकर प्रेम की बातें करते रहे। इस प्रकार भगवान् हस्तिनापुर से आकर सुखपूर्वक वैकुण्ठ के समान अपनी द्वारावती पुरी में रहने लगे। वे सभी स्त्रियाँ समझती थीं कि भगवान् हमारी मुट्ठी में हैं, हमारी कठपुतली बने हुए हैं। हम उन्हें जैसे चाहें नचा सकती हैं, जिधर चाहें घुमा सकती हैं, जो चाहें करा सकती हैं। उनका ऐसा समझना उचित ही था, क्योंकि भगवान् का व्यवहार ही ऐसा कपटपूर्ण था। वे बेचारी क्या जानती थीं कि ये विश्व को नचाने वाले हैं। पृथ्वी पर जब नर रूप में बहुत से असुर पैदा हो गये, तो उन्हें आपस में ही भिड़ा दिया, जैसे बाँस आपस में ही रगड़-रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करते हैं और उसी अग्नि में सब-के-सब भस्म हों जाते हैं। अतः वायु की तरह अरूप होकर, तटस्थ होकर एक दूसरे को लड़ा दिया। आप निःशस्त्र होकर केवल रथ को अलग बैठकर चलाते रहे। वहाँ सबने अर्जुन का सारथि समझा और वहाँ द्वारावती में साधारण मनुष्य के समान, हजारों रति से भी बढ़कर सुन्दरियों के साथ रमण करते रहे। वे स्त्रियाँ साधारण सौन्दर्य वाली नहीं थीं। उनके रूप सौन्दर्य से परास्त होकर कामदेव निहत्था हो जाता था। वह भी अपना ऊख का धनुष और पुण्य पुष्पों के शर को रखकर अन्यमनस्क हो जाता था। जब वे अपने गूढ़ अभिप्रायों को सैनों के संकेत द्वारा व्यक्त करतीं, जब वे अपनी निर्मल सुन्दर स्वाभाविक हँसी से हँस पड़ती, जब अपनी तीखी, कटीली, कजरीली, चितवन से देखने लगतीं, तब और की तो बात ही क्या, कामदेव लज्जित होकर मूर्छित हो जाता। उन्हें अपने अपार सौन्दर्य पर अधिक गर्व था। किन्तु वे श्यामसुन्दर के मन को मोहने में समर्थ नहीं हुई।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतना सौन्दर्य तो कहीं सुना नहीं। फिर भी भगवान् उनमें निर्लिप्त भाव से कैसे रहे? भगवान् होने पर भी वे लीला तो मनुष्यों की-सी कर रहे थे उनके मन में कभी चञ्चलता नहीं आई थी क्या?"

सूतजी हँसकर बोले—"शौनकजी! आपने भी कैसा असङ्गत प्रश्न कर डाला? क्या भगवान् के विषय में ऐसा प्रश्न करन आप सर्वज्ञ के लिये उचित है। आप सब जानते हैं संसारका समस्त सौन्दर्य श्यामसुन्दर के अखिल सौन्दर्य राशि का कण मात्र है। एक विन्दु सिन्धु को कैसे भिगो सकता है। एक कण मिश्री क्षीर सागर को मधुर बनाने में कैसे समर्थ हो सकती है? एक सरसों का दाना सुमरु को कैसे ढक सकता है? इसी प्रकार यह सांसारिक सौन्दर्य श्यामसुन्दर को मोहित किस प्रकार कर सकता है? जो भगवान् का वास्तविक तत्व नहीं जानते, वे ही संसारियों की तरह कर्मों में प्रवृत्त देखकर उन्हें भी सांसारिक समझने लगते हैं। वास्तव में वे तो सर्व सङ्गों से निवृत्त हैं। उनमें अविद्या, माया प्रकृति का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं है। आप प्रत्यक्ष देखें, बुद्धि आत्मा के आश्रित है, किन्तु आत्मा का जो सर्वदा आनन्दमय स्वरूप है, उससे वह लिप्त नहीं हैं। इसी प्रकार भगवान प्रकृति में स्थिति से प्रतीत होते हैं। प्रकृति को साथ लेकर भाँति-भाँति की कमनीय क्रीड़ायें करते रहते हैं, किन्तु स्वयं उससे सदा निर्लिप्त रहते हैं। आप कहेंगे—यह तो असम्भव है। जल में गोता भी लगावें और शरीर में जल का स्पर्श न हो। सो शौनकजी! भगवान् के लिये असम्भव कुछ नहीं है। यही तो उनकी भगवत्ता है कि सब कुछ करते हुए भी अकर्ता बने रहे। सबके सङ्ग रहते हुए भी निःसङ्ग निर्लेप ही रहे। ऐसे भगवान् को भी वे बेचारी अबलायें एकान्त में घुल-घुलकर बातें करते देखकर समझती थीं कि अब ये हमारे वश में हो गये। वास्तव में भक्तों को छोड़कर भगवान् किसके वश में आने वाले हैं। भक्त तो उन्हें जैसे चाहें नचा सकते हैं, शेष सब जीवों को तो वे जैसे मदारी बन्दरों को नचाता है, वैसे ही मायारूपी रस्सी में बाँधकर नचा रहे हैं।

इस प्रकार भगवान् पृथ्वी का भार दूर करके सुखपूर्वक अपनी द्वारकापुरी में रहकर, समस्त बन्धु-बान्धव और प्रजाजनों को आनन्दित करने लगे।

छप्पय

सुनि नूपुरकी झनक, चुनरिनिकी खनक मनोहर।
माँ बोली–अब जाउ वस्त्र बदलो भीतर घर।।
मन्द-मन्द मुस्कात, महलमें मोहन आये।
नारि निरखि नंदनन्द नयनतें नीर बहाये।।
मनते मोहनतें मिली, नयन ओटतें चोट करि।
शिशु सौंप्यो पुनि लाई उर, आलिङ्गन यों किये हरि।।

महाराज परीक्षित् का जन्म

(३९)

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवोजसा।।*

(श्री० भा० १ स्क० १२ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

बोले शौनक–सूत! सुधा सम कथा सुनाई।
कहो परीक्षित् जन्म कर्म बल वीर्य बड़ाई।।
कहें सूत–सब सुनो कुक्षिगत बालक जरते।
निरखे निर्मल रूप गदातें रक्षा करते।।
करे परीक्षा कौन ये, सुन्दर श्याम स्वरूप युत।
दशम-मासमें तिरोहित, भये प्रकट अभिमन्यु सुत।।

श्री भगवान् के गुणों में इतना सौन्दर्य है, उनमें इतनी दिव्य मिठास है कि

---

* इसके अनन्तर जब अनुकूल ग्रहों के साथ शुभ ग्रहों का उदय हुआ, जिसमें अन्म लेने से बालक के सभी गुणों का विकास होता हे, ऐसे शुभ लग्न के आने पर महाराज पाण्डुके वंश को बढ़ाने वाले महाराज परीक्षित् का जन्म हुआ। वे अपने तेज से ऐसे जान पड़ते थे, मानों स्वयं महाराज पाण्डु ने ही फिर से जन्म ग्रहण कर लिया हो।

अधिकारी पुरुष—जिसके पूर्वकृत पाप क्षीण हो गये हैं, वह सुनता है तो अपने आपे को भूल जाता है, फिर उसे अन्य विषयों का ध्यान ही नहीं रहता। जैसे विषयी पुरुष विषय वार्ताओं में निमग्न होने से अपने श्रेय को भूल जाता है। जैसे मद्यपी मद्य के नशे में कर्तव्याकर्तव्य को भूल जाता है। वैसे ही भगवत् वार्ता सुनते-सुनते साधु पुरुष इस संसार को भूल जाते हैं।

भगवान् की दिव्य रसीली कथाओं को सुनते-सुनते शौनकादि मुनि इतने तन्मय हुए कि अपने मुख्य प्रश्न को भूलकर भगवत् चरित्र के प्रवाह में ही बह गये। जब सूतजी श्यामसुन्दर को द्वारकापुरी पहुँचाकर उनके स्वजन, प्रिय, बन्धु-बान्धव और प्रियतमाओं से मिलाकर चुप हो गये, तब ऋषियों को वाह्य ज्ञान हुआ। जैसे सोता हुआ पुरुष एक साथ नींद से उठकर स्वप्न की बातों का स्मरण करके इधर-उधर देखता है और जब उसे निश्चय हो जाता है कि स्वप्न की बातें विलीन हो गई और मैं जैसे रात्रि में सोया था वैसे ही शैया पर सो रहा हूँ, तब वह अपने पूर्व व्यापारों में प्रवृत्त होता है।

अब तक तो शौनकादि ऋषि अपने को भगवान् के साथ-ही-साथ द्वारावती ले गये, वहाँ के स्वागत समारोह और धूम-धाम में भी सम्मिलित हुए। भगवान् जब अन्तःपुर में प्रवेश कर गये, तो भी भीतर की बातें सुनने को सुधर्मा सभा के द्वार पर खड़े रहे। जब सूतजी चुप हो गये, जब उन्हें वाह्य-जगत् का ज्ञान हुआ। भाव जगत् से स्थल जगत् में आये। उन्होंने देखा—"अरे, हम तो नैमिषारण्य में बैठे हैं, सूतजी कथा सुना रहे हैं और हम सब उनके मुख से श्रवण कर रहे हैं तब तो आश्चर्य चकित होकर शौनकजी कहने लगे।

सूतजी की ओर देखकर महामुनि शौनक बोले—"महाभाग सूतजी! आप कथा क्या कर रहे हैं, मानों आपनी वाणी में अमृत घोल-घोलकर हमारे कणों में उड़ेल रहे हैं। महाभाग! हम तो ऐसे तन्मय हो गये कि भगवद् भाव भावान्वित ही हो गये। हम आपको, नैमिषारण्य को, गोमती को, सभी को भूल गये। हमने प्रश्न किया था, महाराज परीक्षित् के जन्म का और आप गर्भस्थ

परीक्षित् की ब्रह्मास्त्र की रक्षा कराने की कथा सुनाते-सुनाते कृष्ण कथा का ही रसास्वादन कराने लगे। जैसे किसी मिठाई बेचने वाले से-रसगुल्ला बनाने के लिये-हम छेना का-मोल-भावकरें और वह छेना का मोल-भाव बताते-बताते ही, सुन्दर स्वादिष्ट हाल के बने रसगुल्ले भी बिना मूल्य के खिलाता जाय, उसी प्रकार हमारे द्वारा भक्त का प्रसङ्ग पूछे जाने पर, आप इतना अधिक भगवत् चरित भी सुना गये। दूसरे किसी प्रसङ्ग की कथा होती, तो यह विषयान्तर ही समझा जाता, किन्तु भगवत्-कथा में तो विषयान्तर की सम्भावना ही नहीं।

समुद्र की लहरों की आदि नहीं, अन्त नहीं। जिस दिन जिस समय से गिनना आरम्भ करो, वही आदि है, जहाँ समाप्त कर दो, वहीं अन्त है। लहरों के गिनने वाले ने न आदि देखा, न अन्त। मन से ही उसने आदि अन्त की कल्पना कर ली। इसी प्रकार भगवत् चरित अपार है। जहाँ से आरम्भ करो वहीं आरम्भ है। उसमें विषयान्तर की सम्भावना कैसे हो सकती है। आम चूसने में तो नियम है कि जिस ओर डाल में लटकता है, उधर उसका मुँह होता है। नख से उसके मुँह को खोलकर, चेंप को निकालकर, तब चूसिये, बड़ा आनन्द आवेगा। किन्तु मिश्री की डली में तो कोई नियम नहीं, जहाँ से भी तोड़ो जहाँ से भी चूसो, वहीं से मिठास। उसमें कोई हेय पदार्थ नहीं, कोई नियम नहीं, सर्वत्र मिठास-ही-मिठास है। इसी प्रकार भक्तों के चरित्रों में तो कुछ नियम रहता भी है, उनका चरित्र जन्म से कहो, संसारी लोगों के मोह वाली बातों को छोड़ दो, संक्षेप में कर दो, किन्तु भगवत चरित तो चारों ओर से सुधा से परिपूर्ण है। उसमें अत्युक्ति नहीं, प्रसङ्गान्तर नहीं, विषयान्तर नहीं, आदि नहीं मध्य नहीं, अन्त नहीं। वह तो सुधा रस का सागर है, जहाँ से चाहो पी लो, जहाँ चाहो तो नहा लो। सर्वत्र एक-सा ही गुण एक-सा ही स्वाद एक-सी ही प्रसन्नता है।

हाँ, तो आप यह बता रहे थे कि द्रोण पुत्र अश्वत्थामा ने द्वेष वश पाण्डुवंश को निर्मूल करने के लिये, उत्तरा के गर्भ में स्थित महाराज परीक्षित् को मारने के लिये और पाण्डवों को मारने के लिये ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित

करके पृथक्-पृथक् छः बाण छोड़े। भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से पाण्डवों की ओर आये हुए बाणों को तो काट दिया, किन्तु हमें यह बताइये कि उस गर्भ के बालक की रक्षा भगवान् ने कैसे की? भगवान ने ही कृपा करके जिनकी गर्भ में रक्षा की, बिना साधन के ही गर्भ में ही जिन्हें भगवान् के दर्शन हो गये, उन महाभाग परीक्षित् के जन्म, कर्म और देह त्याग के वृत्तान्त को हम सब विस्तार के साथ सुनना चाहते हैं। अन्त समय में व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी ने उन्हें कैसे और कहाँ किस प्रकार का उपदेश दिया? यह भी समझाइये और इस बात को भी बताइये कि अन्त में उन्हें कौन-सी गति प्राप्त हुई इन सब बातों को सुनने के लिये हमें उस कथा को सुनने का अधिकारी मानते हो तब तो सुनाइये और यदि कोई रहस्य की बात हो, सबके सामने कहने में सङ्कोच हो, तो उसे रहने दें, और अन्य चरित्र सुनावें।"

ऋषियों के ऐसे कोमल भक्ति और उत्सुकता पूर्ण प्रश्न को सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"मुनियो! आपसे अधिक इस कथा को सुनने का उत्तम अधिकारी और कौन होगा? आप ही तो इसके श्रवण करने के पुनीत पात्र हैं। आपके द्वारा ही प्रकट होकर तो ये पुण्य कथायें संसार में प्रसिद्ध होकर माया बद्ध संसारी दुखी जीवों के पाप तापों को सदा नष्ट करती रहेंगी। मैंने विषयान्तर नहीं किया। आपने मुझसे महाराज परीक्षित् के जन्म का वृतान्त पूछा था, मैंने उनके पूर्वजों का वृत्तान्त बताकर भगवान् वासुदेव ने जैसे गर्भ में उनकी रक्षा की वह बात बताई। भगवान तो द्वारका जाने को उत्सुक थे, उन्हें मैं वहीं छोड़कर आपसे आगे की कथा कैसे कहता? अब भगवान अपने अन्तःपुर में आ गये। सभी पुरजन, राज्य और नगर के लोग हर्षित हो गये। अब मैं भगवान् को पहुँचाकर इधर हस्तिनापुर की कथा कहूँगा। फिर हमारी कथा का मुख्य उद्देश्य तो भगवत् चरित का ही वर्णन है जो अवसर पर मुझे सहज ही प्राप्त हो गया था उसे मैं कैसे छोड़ता?"

इतना सुनकर शौनकजी ने शङ्का की—"सूतजी! हमने तो ऐसा सुना है कि ब्रह्म तेज से दग्ध होकर महाराज परीक्षित् मृतक होकर ही माता के गर्भ से

निकले थे। उन्हें मृतक देखकर सब लोग विलाप करने लगे। तब श्रीकृष्ण भगवान् वहीं विराजमान थे। उन्होंने अपनी योगशक्ति से उस बालक को स्पर्श करके जिला दिया और आप अब भगवान् को द्वारका पहुँचा कर तब श्रीपरीक्षित् के जन्म की कथा कह रहे हैं, तो क्या परीक्षितजी के जन्म के समय भगवान् फिर हस्तिनापुर आये थे? हमारे इस सन्देह को दूर कीजिये।"

शौनकजी के प्रश्न को सुनकर सूतजी कहने लगे—"भृगु वंशावतंश श्री शौनकजी! ऐसी कथा मैंने भी सुनी है। किसी कल्प में ऐसा भी हुआ होगा। किन्तु इस भागवती कथा के प्रसङ्ग में ऐसी घटना का घटित होना भगवत् कृपा के महत्व को घटाना है, भगवान् की भक्तवत्सलता को कम करना है। भगवत कृपा के सम्मुख ब्रह्मास्त्र की क्या शक्ति है कि वह किसी को मार सके? महाराज परीक्षित् का गर्भ में बाल भी बाँका नहीं हुआ। वहाँ तो उन्होंने एक अद्भुत घटना देखा। उसकी तो परीक्षा करते-करते वे परीक्षित् के नाम से प्रसिद्ध हुए। अब सुनिये, सब वृत्तान्त मैं आपको आदि से ही सुनाता हूँ।"

भगवान् वासुदेव द्वारका को चले गये। धर्मराज युधिष्ठिर धर्मपूर्वक अपनी समस्त प्रजा का पुत्रवत् पालन करने लगे जिन पर समस्त ऐश्वर्य के निधि, समस्त कामनाओं के पूर्ण करने वाले, कल्पवृक्ष स्वरूप लक्ष्मीपति भगवान् सन्तुष्ट हैं, उनके ऐश्वर्य का वर्णन करना व्यर्थ है। पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर को कमी ही किस बात की थी? संसार में सुख के कारण धन, सम्पत्ति, पुत्र, पत्नी, परिवार, राज्य, ऐश्वर्य, यश और पुण्य कार्य आदि इतने ही बताये जाते हैं। धर्मराज की सम्पत्ति की कोई गणना ही नहीं थी, उन्होंने इन्द्रप्रस्थ में रहकर भी राजसूय, प्रभृति अनेक यज्ञयाग और पुण्यादि कर्म किये थे, उनकी पत्नियाँ उनके अनुकूल कुलीन और सुन्दर थीं, उनके सभी भाई लोकपालों की भाँति पराक्रमी, शूरवीर, विश्वविजयी और देवताओं द्वारा भी प्रशंसित और सम्मानित थे। समस्त जम्बूद्वीप के वे एकछत्र सम्राट् थे। पृथ्वी पर उनका प्रतिस्पर्धी दूसरा कोई भी बली राजा नहीं था। पृथ्वी पर ही नहीं, स्वर्ग पर्यन्त उनका अमल यश व्याप्त हो रहा था। उनके चारु चरित्रों और

पुण्य पराक्रमों का गायन स्वर्ग में सिद्ध-चारण, गन्धर्व बड़े ही सम्मान के साथ करते थे। इतना सब होने पर उनका चित्त सदा श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में ही लगा रहता था। ये विपुल वैभव, अटूट सम्पत्ति उनके सुख का कारण नहीं कही जा सकतीं। उन्हें सुख तो भगवान् वासुदेव की निरन्तर स्मृति से ही मिलता था। ये संसारी सुखोपभोग तो उनके लिये भारभूत थे। कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से वे इन्हें अनिच्छापूर्वक भगवत् आज्ञा समझकर वहन कर रहे थे। आप ही सोचो—जिसने मिश्री का स्वाद चख लिया है, उसे चीनी का मैला सौरा कब अच्छा लगने लगा? जिसने गङ्गाजी स्नान कर लिया है, उसे मरुभूमि के कीच और मेढ़क से भरे गन्दे तालाब का स्नान कैसे अच्छा लग सकता है। जिसने कमल, पाटल, गुलाब, चम्पा, जूही, चमेली आदि की मालायें धारण की हैं, उन्हें कुरूप कागजों के फूलों की बनी मालायें कैसे भा सकती हैं? फिर उनका चित्त तो एक ही है, वह तो लगा हुआ था श्यामसुन्दर में। विषयों का भोग तो मन के द्वारा ही होता है न? एक आदमी भूखा है, भूख से व्याकुल हो रहा है, उसका मन स्वादिष्ट भोजन की ही चिन्ता में लगा है। उसे आप सुगन्धित मालायें पहिनाइये, कस्तूरी केशर कपूर से मिश्रित चन्दन लगाइये, सुन्दर सुसज्जित शैय्या पर शयन कराइये, दिव्य-से-दिव्य अङ्गराग तेल-फुलेल लगाइये, नाना प्रकार के गायन वाद्यों के द्वारा उसकी स्तुति कराइये, किन्तु उसका मन तो भोजन में ही लगा रहेगा। ये सब उसे विषवत् प्रतीत होंगे। इसी प्रकार धर्मराज का मन तो भगवान् में लगा था। अतृप्त भाव से वे उन्हीं की चिन्ता में सदा संलग्न रहने थे, इसीलिये सांसारिक भाग की बहुलता उनके सुख का कारण न बन सकी। उन्हें यदि कोई कभी चिन्ता होती भी तो एक ही होती कि इस भरतवंश के अनुरूप कोई भगवत् भक्त उत्तराधिकारी हमारा हो जाय, जिसके ऊपर राज्य भार डालकर, हम सदा श्रीकृष्ण-स्मरण कीर्तन में ही अपना काल व्यतीत कर सकें।

इधर अभिमन्यु के आत्मस्वरूप महाराज परीक्षित् अपनी माँ उत्तरा के गर्भ में बढ़ने लगे। गर्भ में ही उस तेजस्वी बालक ने देखा की किसी अस्त्र का

असह्य जाज्वल्यमान तेज बड़े वेग से उनकी ओर जलाने के निमित्त आ रहा है। किन्तु अस्त्र की उष्णता उन पर पहुँच ही नहीं पाती, क्योंकि कोई वर्ण का बालक हाथ में गदा लिये हुए बड़े वेग से घुमाता हुआ, ब्रह्मास्त्र से उनकी रक्षा कर रहा है। महाराज परीक्षित् गर्भ में ही उस विचित्र बालक को देखकर विस्मित हो गये। वह आकार में बहुत बड़ा भी नहीं था। अँगूठे के परुए के बराबर था, किन्तु उसका तेज करोड़ों सूर्य के समान था। जैसे अताल चक्र घूमकर अपना एक तेजस्वी मण्डल बना लेता है, ऐसे ही उसने गदा घुमाते-घुमाते अपना एक प्रकाशमय मण्डल बना लिया था। उसका स्वरूप अत्यन्त ही मनोहर और निर्मल था। सिर पर सुवर्ण का सुन्दर मुकुट शोभायमान था। जिसमें असंख्य दिव्य मणियाँ झलमल-झलमल करती हुई प्रकाशित हो रही थीं। परम सुन्दर सांवले शरीर पर वर्षाकालीन विद्युत के समान परम शोभायमान पीताम्बर फहरा रहा था। अत्यन्त विकसित कमल के समान सुन्दर, सुघड़, सुहावने लाल-लाल निर्मल नेत्र थे, कानों में कमनीय कुण्डल धारण कर रखे थे। वह दिव्य बालक अपनी चमकीली गदा से ब्रह्मास्त्र को उसी प्रकार शान्त कर रहा था जैसे उदित हुए सूर्य कुहरे को शान्त कर देते हैं अथवा घर के अन्धकार को दीपक भगा देता है अथवा रात्रि के तम को चन्द्रमा नष्ट कर देते हैं। उस इतने छोटे बालक को ऐसा अद्‌भुत पराक्रम करते देखकर गर्भ में विराजमान उत्तरानन्दन सोचने लगे—"यह कौन है? मेरा कोई दूसरा भाई तो नहीं है? किन्तु यह मेरी भाँति जरा नामक झिल्ली से आबद्ध नहीं हे, सब तरह से बन्धन मुक्त है। इसका तेज अधिक होने पर भी असह्य नहीं है। निर्मल और शान्त है। यह अस्त्र जो मुझे जलाने को मेरी ओर आ रहा है, इसे नष्ट करता हुआ यह मेरी रक्षा इस प्रकार क्यों कररहा है। भाँति-भाँति की तर्कना करते-करते वह गर्भपात बालक दस महीने तक उसी विचित्र बालक का ध्यान चिन्तन करता रहा। जब दस महीने पूरे हो गये तब वह दिव्य तेज वहीं तिरोहित हो गया और नष्ट हुए भरतवंश को बढ़ाने वाले अभिमन्यु सुत उत्तरा के गर्भ से बाहर आये।

उस समय सभी शुभ ग्रह अनुकूल थे। वायु शीतल मन्द सुगन्धित बह रही थी। न बहुत गर्मी थी, न सर्दी। शरद् ऋतु का सुहावना समय था। जिस लग्न में जन्म लेने से बालक के सभी सद्गुणों का विकास होता है उसी परम शुभ लग्न में महाराज परीक्षित् का जन्म हुआ। जब यह समाचार दासी ने महाराज को सुनाया तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने कोषाध्यक्ष को बुलाकर आज्ञा दी—"आज खजाना खोल दो। जो भी आकर जिस चीज की याचना करे, उसे वही चीज बिना बिलम्ब दे दो।"

हजारों लाखों दूध वाली सवत्सा गौएँ—जिनके खुर चाँदी से मढ़े थे, सींगों में सुवर्ण लगा था, जिनके साथ काँसे की बड़ी-बड़ी दोहनी थीं, ऐसी वस्त्र उढ़ाई हुई पयस्विनी कपिला गौएँ—महाराज ने ब्राह्मणों को दान दीं। सुवर्ण चाँदी की असंख्य मुद्रायें, रत्न, मणि मुक्ता—जिसने जो भी माँगा, महाराज ने सबको दिया। उस समय महाराज प्रेम में इतने विह्वल हो गये थे कि उनके मुख से वाणी नहीं निकलती थी, हाथ काँप रहे थे। उत्तरा के पुत्र का क्या हुआ, मानों अपने वंश को बढ़ाने के लिये फिर से महाराज पाण्डु ही आ गये हों। उन्होंने धौम्मी, कृपाचार्य आदि अपने कुल पुरोहितों को बुलाकर वेद विधि से बालक के जाति कर्म आदि संस्कार किये और जब तक नाल-छेदन न हुआ तब तक वे बराबर ब्राह्मणों को विविध प्रकार के दान देते ही रहे। वे कितना भी देते थे, फिर भी उनकी तृप्ति नहीं होती थी। चाहते थे—आज अपना सम्पूर्ण राज्य को लुटा दें। उनकी ऐसी उदारता देखकर सभी ब्राह्मण, आश्रित तथा याचक बहुत सन्तुष्ट हुए और अन्तःकरण से नवजात शिशु की मङ्गल कामना करने लगे, भाँति-भाँति के आशीर्वाद देने लगे।

धर्मराज हाथ जोड़े हुए बड़े विनीत भाव से ब्राह्मणों के आगे बैठे थे। उन्हें उस प्रकार विनय से युक्त और नम्र देखकर ब्राह्मणों ने महाराज युधिष्ठिर से कहा—"राजन्! यह बड़े मङ्गल की बात है कि आज आपके घर पुत्र रत्न का जन्म हुआ। काल की गति दुर्निवार है। देखिये, कितना समृद्धशाली सम्पूर्ण वंश ही एक एक प्रकार से प्रायः नष्ट हो चुका था, किन्तु विष्णु भगवान ने

कृपा करके आपको यह वंशधर श्रेष्ठ पुत्र प्रदान किया। यह पुत्र विष्णुना रातः (दत्तः) इसलिये इसका नाम 'विष्णुरात' ऐसा होगा और आप इस बच्चे को साधारण बालक ही न समझे। यह संसार में बड़ा यशस्वी, श्रेष्ठ, भगवत् भक्त, सज्जनों का प्रतिपालक और कल्प वृक्ष के समान उसकी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला होगा।"

ब्राह्मणों के मुख से अपने पौत्र के सम्बन्ध में ऐसी भविष्यवाणी और आशीर्वचन सुनकर महाराज युधिष्ठिर को परम हर्ष हुआ। उन्होंने सभी ब्राह्मणों की श्रद्धाभक्ति सहित वन्दना की।

छप्पय

सुनत परीक्षित् जन्म हर्ष चहुँ दिशिमें छाये।
नगर राज्य सर्वत्र विविध विधि बजत बधाये।।
वेद विज्ञ बहु विप्र युधिष्ठिर वेगि बुलाये।
दिये दान बहु ग्राम अन्न धन रतन लुटाये।।
कहें विप्र–ये जगतमें, विपुल अमल यश पायेंगे।
विष्णु वीर्य रक्षित नृपति, विष्णुरात कहलायेंगे।।

महाराज परीक्षित् के जन्म-ग्रहों का फल

(४०)

अप्येष वश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः।।*

(श्री० भा० १ स्क० १२ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

पृथा पुत्र पुनि कहें–पुत्रके ग्रह फल भाखें।
बोले विप्र–तुम्हार पौत्र कुल गौरव राखे।।
विप्र भक्त, दुरधरष दयारत दाता दुस्तर।
क्षमाशील गुणवान् सत्यवादी सब सुखकर।।
शूर सिंह सम समर प्रिय, बीर बिज्ञ विजयी बड़े।
रहें द्वार पै बाँधि कर, आज्ञाहित भूपति खड़े।।

पुत्रोत्पत्ति के समय को शास्त्रकारों ने प्रजातीर्थ बताया है। उस समय में और व्यतीपात में दिया हुआ दान अक्षय बताया गया है। उसका कभी नाश

---

* महाराज युधिष्ठिर वेदज्ञ विप्रों से पूछते हैं—"हे श्रेष्ठ विप्रो! आप यह बतावें कि यह बालक क्या अपने उत्तर यश के द्वारा पुण्यकीर्ति वाले जो अपने पूर्वज राजर्षि महात्मा हुए हैं, उनके पथ का अनुसरण कर सकेगा?"

नहीं होता। पुत्रोत्पति के समय कितना हर्ष होता है, उसे पुत्र परिवार हीन पुरुष अनुभव कर ही नहीं सकता। संसार में आत्मा प्रिय मानी गई है। वही आत्मा जब जाया के उदर में नवीन होकर—सुन्दर सुकोमल छोटा-सा सुहावना रूप रखकर—फिर से पैदा होता है, तो पिता पितामह को अपार हर्ष होता है। बहुत पुत्र होने पर हर्ष की मात्रा भी कम हो जाती है, अथवा धनहीन पुरुष के बहुसन्तति होने से उसे हर्ष मिश्रित दु:ख भी होता है, किन्तु जो वंश निर्मूल हो रहा हो जिसमें आगे कोई पितरों को पिण्ड पानी देने वाला पुरुष न रहा हो, उस समृद्धशाली वंश में यदि वंश बढ़ाने वाला बालक उत्पन्न हो जाय तो उस परिवार की प्रसन्नता का वारापार नहीं रहता।

आज महाराज युधिष्ठिर में महलों के भीतर, नगर और सम्पूर्ण राज्य में भी उसी प्रकार का अपार आनन्द छाया हुआ है। महाराज युधिष्ठिर बच्चे का भविष्य जानने को बड़े उत्सुक हैं। पुत्र यदि हुआ, और वंश के अनुरूप आचरण करने वाला न हुआ तो उनका होना-न-होना बराबर ही है। धर्मराज को वंश वृद्धि की उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी की अपने पूर्वजों की विमल कीर्ति को अक्षुण्य बनाये रखने की थी। वे चाहते थे मेरे वंश में सभी भगवत् भक्त हों। भरतवंश की कमनीय कीर्ति में कोई कालिमा न लगा सके। इसलिये उन्होंने राज्य भर के सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भविष्य वक्ता, ज्योतिषी और ग्रहों के फल बताने वाले गणकों को एकत्रित करके उनसे पूछा—"महानुभावो! आप अपनी विद्या के प्रभाव से भविष्य और वर्तमान, तीनों कालों की बातें जान सकते हैं। मेरे यहाँ जो पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ है, उसकी लग्न और ग्रहों को देखकर उनका जो फल हो, वह मुझे आप सब बतावें क्या यह बालक हमारे वंश के अनुरूप होगा? जैसे मेरे पितामह, प्रपितामह की संसार में अभी तक ख्याति बनी हुई है। क्या यह भी उन्हीं की भाँति कीर्ति वाला होगा? सबसे अधिक चिन्ता मुझे इस बात की है कि यह वैष्णव और ब्राह्मणों का कभी अपकार तो न करेगा? क्या यह भगवान् और भगवत् भक्तों का कृपा पात्र बन सकेगा?"

महाराज युधिष्ठिर के प्रश्न को सुनकर देवज्ञ ब्राह्मणों ने नवजात बालक की लग्न निकाली और यथा स्थानों में ग्रहों को रखकर वे उनका फलाफल विचार करने लगे। सब विचारकर वे विप्र वृन्द बोले—"महाराज! हमने बहुत बच्चों के लग्न देखे हैं, किन्तु जितने शुभ ग्रह इनके उदित हुए हैं, उसने शुभ ग्रहों को एक साथ उत्तम स्थानों में हमने आज तक नहीं देखा।"

ब्राह्मणों की बात सुनकर धर्मराज हृदय से अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और गद्‌गद कण्ठ से कहने लगे—"सम्मानीय विप्रो! मैं सिर से आप सबको प्रणाम करता हूँ। मैं कुछ ग्रहों के फल को सुनना चाहता हूँ। कुछ आप सबकी परीक्षा के निमित्त नहीं, अपनी उत्सुकता मिटाने के लिये। अपने कुल की वृद्धि के लिये मेरे मन में बड़ी व्याकुलता है। राजा का सर्वश्रेष्ठ गुण है प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करना। जिस राजा में यह गुण नहीं वह राजा कहलाने के योग्य नहीं। वह या तो व्यापारी है या दस्यु है। उसका प्रजा हृदय से आदर नहीं करती और छिद्र पाते ही उसे सिंहासनाच्युत कर देती है।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! ये प्रजा को उसी तरह प्रिय होंगे जैसे महाराज मनु सबको प्रिय थे। ये अपने पुत्रों में और प्रजा के पुत्रों में कोई भी भेद-भाव न करेंगे। यदि अदण्ड्य होगा, तो शत्रु पुत्र को भी दण्ड न देंगे और यदि दण्ड्य हुआ, तो अपने सगे और सुपुत्र को भी बिना दण्ड दिये न मानेंगे। इनकी प्रजा में जो भी रहेंगे उनका पुत्रवत् पालन करेंगे।"

इस पर धर्मराज बोले—"विप्रो! कुछ धर्महीन दुष्ट जैसे राजा भी होते हैं, जो वेदज्ञ ज्ञानी ब्राह्मणों को अच्युत गोत्री श्री भगवान् के अनन्य भक्तों को जो उनके राज्य में रहकर तपस्या और भगवत् भक्ति में निरत रहते हैं—उन्हें भी वे अपनी प्रजा समझते हैं और उन पर भी अपना शासन चलाना चाहते हैं? इसी से उनका नाश हो जाता है। यह ऐसा तो नहीं होगा? यह विद्वान् ब्राह्मणों और भक्तों के सेवा तो करेगा? जिससे जिस बात की प्रतीज्ञा कर लेगा, उसे प्राणपन से पूरी तो करेगा?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाभाग! इनके शुभ ग्रह बतला रहे हैं कि जैसे उसीनर देश के राजा शिवि शरणागतवत्सल और दाता थे वैसे ही ये भी होंगे। महाराज शिवि ने अपनी शरण में आये हुए कबूतर के लिये अपने शरीर का मांस भी बाज को दे डाला था। इसी तरह इनकी शरण में चाहे इनका घोर शत्रु ही क्यों न आ जाय ये उसकी सब प्रकार से रक्षा करेंगे। किसी के लिये भी कोई वस्तु इनके लिये अदेय न होगी ये कल्पवृक्ष के समान सबकी अभिलाषाओं को पूर्ण करते रहेंगे।"

धर्मराज ने पूछा—"इसके कई ऐसे ग्रह भी पड़े हैं, जिससे पुण्य कर्म करके संसार में यशस्वी होकर अन्त में स्वर्ग का अधिकारी हो?"

ब्राह्मण बोले—"हे नरनाथ! इनकी कुण्डली में एक बड़ा विचित्र गुरु-चान्द्री योग पड़ा है। ज्योतिष शास्त्र का मत है कि ये बृहस्पतिजी तो देवताओं के गुरु हैं, और चन्द्रमा ब्राह्मणों के गुरु हैं। ये दोनों शुभ ग्रह जहाँ भी, जिस स्थान में मिलकर भाग्य विधातृत्व स्वीकार कर लें, उस व्यक्ति के सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। उसका संसार में बड़ा यश होता है। वह देवता और ब्राह्मणों का भक्त होता है। इसलिये आपके पूर्वज जैसे महाराजा भरत परम यशस्वी हो गये हैं, जिनके नाम से आज तक आपका वंश भरतवंश कहलाता है, उसी प्रकार ये भी अनेक अश्वमेधादि यज्ञ करके पृथ्वी पर अपने कुल का विस्तार करेंगे।"

धर्मराज ने पूछा—"हे भूदेवो! राजा के लिये अर्थ काम के सहित धर्म का सेवन करना चाहिये। यदि यह निरन्तर यज्ञ योग में ही लगा रहा और अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास न किया, तो शत्रु दुर्बल समझकर इसके राज्य की छीन लेंगे। इसीलिये यशस्वी होने के साथ ही यह कुछ धनुर्वेद का भी ज्ञाता होगा क्या?"

विप्रों ने कहा—"हे नरेन्द्र! ये सामान्य योद्धा न होंगे। ये अपने पितामह अर्जुन के समान या यदुवंश में जो परम प्रतापी सहस्रार्जुन हुएहैं, उनके समान

शूरवीर और धनुर्धर होंगे। जहाँ ये धनुष की टङ्कार करेंगे, वहीं सभी शत्रु टङ्कार सुनते ही भयभीत हो जाया करेंगे क्योंकि इनका गुरु चान्द्री योग दशमेघ होकर केन्द्र त्रिकोण में स्थित है, अतः यह प्रबल प्रतापी राजा होंगे। इनको अग्नि की भाँति कोई स्पर्श नहीं कर सकता। ये बड़े तेजस्वी और प्रभावशाली होंगे। इनके मनोगत गूढ़ भावों को भली-भाँति कोई समझ न सकेगा, समुद्र के समान शान्त गम्भीर और दुस्तर होंगे। जैसे सिंह को देखते ही बन के सभी जीव डरकर इधर-उधर भाग जाते हैं, उसी प्रकार इनके पराक्रम के आगे कोई ठहर न सकेगा।"

धर्मराज बोले—"विप्रों! यह तो अच्छी बात नहीं हुई कि कोई इसके प्रभाव को देखकर इसके पास न ठहर सके। जब यह इतना डरवाना होगा, तो कोई इसके समीप कैसे रहेगा?"

ब्राह्मणों ने कहा—"हे शरणागतवत्सल राजन्! पराक्रमी होने पर भी ये हिमालय के समान सभी के लिये सेव्य होंगे। इनका पराक्रम शत्रुओं के लिये ही होगा स्वजनों को तो ये गौ के समान सुखदायी और प्रिय होंगे। ये माता के समान अङ्क में बिठाने वाले और पिता के समान पालनकर्ता होंगे। जैसे पृथ्वी अपने ऊपर रहने वाले समस्त जीवों के अपराधों को क्षमा करती है, जैसे माता-पिता बालकों के दोषों को क्षमा करते रहते हैं, उसी प्रकार ये अपने आश्रितों के अपराधों को सहिष्णुता और तितिक्षा के कारण क्षमा करते रहेंगे।"

धर्मराज ने कहा—"आश्रितों के अपराधों को क्षमा कर दिया और निरपराध क्षत्रियों को अपना प्रभाव जमाने को सताते रहे, यह भी तो ठीक नहीं है?"

विप्रों ने कहा—"धर्मावतार! इनके ग्रहों के फल से प्रतीत होता है कि ये लोक पितामह जैसे अपने सभी पुत्र-पौत्र, देव, दानव, दैत्य, यक्ष-राक्षसों को समान भाव से समझते हैं, जिसका जिस कार्य से कल्याण देखते हैं, उनके लिये वही कार्य करते हैं, उसी प्रकार ये सभी लोगों के साथ समानता का

व्यवहार करेंगे। दण्ड देने योग्य जो भी होगा उसे समान भाव से दण्ड देंगे। अनुग्रह करने योग्य पर शत्रु मित्र का बिना विचार लिये अनुग्रह करेंगे।"

महाराज युधिष्ठिर ने कहा—"हे शुभाशुभ के ज्ञाता, भूसुरो! बहुत से राजा ऐसे होते हैं कि उनकी चिरकाल तक सेवा सुश्रूषा करो तब कहीं जाकर किसी पर प्रसन्न होते हैं, किसी पर नहीं भी होते। यह ऐसा तो न होगा?"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! इनकी लग्न में जो गुरु हैं, वे अपने स्थान से नवें स्थान को पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं, शनि दशम को देख रहे हैं और मङ्गल आठवें को, इसलिये इनका फल हम क्या बतावें, किसकी उपमा दें? आप यही समझें कि ये शिवजी के समान आशुतोष और रमावल्लभ भगवान् बैकुण्ठनाथ के समान सबके आश्रय और सेवनीय होंगे। जिस प्रकार श्रीकृष्ण सम्पूर्ण गुणों के एकमात्र आश्रय हैं बस उसी प्रकार से ग्रह इनके पड़े हैं।"

धर्मराज बोले—"विप्रो! गुणवान होगा, यह तो अच्छा ही है, किन्तु चाहे मनुष्य में करोड़ों गुण क्यों न हों, यदि उनमें उदारता नहीं, उसका हृदय कृपण है, तो उसके सभी गुण व्यर्थ हो जाते हैं। कंजूसी एक ऐसा दुर्गुण है कि जैसे मनुष्य सर्वाङ्ग सुन्दर देवतुल्य हो, और उसके मुख पर थोड़ा-सा कुष्ठ हो, तो जैसे वह थोड़ा-सा कुष्ठ सभी सौन्दर्य को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कृपणता सभी सद्गुणों पर पानी फेर देती है। कहीं यह अनुदार कंजूस तो न होगा?"

ब्राह्मणों ने कहा—"हे महामना! प्राचीन काल में आपके वंश में रन्तिदेव नाम के राजर्षि हुए हैं। उन्होंने ४८ दिनों के उपवास के पश्चात् भी मिले हुए अपने भोजन को उदारतावश अतिथियों को बाँट दिया। उसी प्रकार ये उदार होंगे आपके पूर्वज महाराज ययाति बड़े धार्मिक थे। उन्होंने समस्त पृथ्वी के अपने राज्य में यह घोषणा करा दी थी कि जो भगवान्नाम कीर्तन न करेगा उसे प्राण दण्ड दिया जायगा। उनके राज्य में घर-घर भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन होता था, सर्वत्र कृष्ण-कथा का प्रचार था। एक भी मनुष्य धर्महीन नहीं था। अधर्म के ही कारण जरा, मृत्यु, दुःख, आधि-व्याधि आदि उपद्रव

होते हैं। जब उनकी सम्पूर्ण प्रजा धार्मिक हो गई, तो न तो कोई मारता ही था और न वृद्ध ही होता था। आधि-व्याधि रोगों का तो कोई नाम भी नहीं जानता था। उनकी ऐसी धर्मनिष्ठा देखकर इन्द्र, यम, कुबेर आदि सभी बड़े घबड़ाये और उन्हें छलने को किसी प्रकार षड़यन्त्र रचकर वृद्धावस्था को भेजा। जिस प्रकार महाराज ययाति धार्मिक थे। उसी प्रकार ये भी धार्मिक होंगे। इनके राज्य में सर्वत्र कृष्ण-कीर्तन और कृष्ण-कथा का ही गायन होता रहेगा, स्वयं भी ये नाम सङ्कीर्तन और कृष्ण कथा के रसिक शिरोमणि होंगे। धैर्य में ये दैत्यराज बलि के समान और प्रह्लाद के समान, श्रीकृष्ण में दृढ़ निष्ठा रखने वाले होंगे। ये बहुत अश्वमेध यज्ञ करेंगे, बड़े बूढ़ों की सब प्रकार से सेवा करेंगे और अपने समान ही कई राजर्षि पुत्रों को पैदा करके पितरों के ऋण से उऋण होंगे। जो भी अन्याय करो उसी का ये दमन करेंगे। यहाँ तक की धर्म रक्षा के लिये साक्षात् कलियुग का भी निग्रह करेंगे। उसे मारने को ये उद्यत हो जायँगे।"

धर्मराज ने पूछा—"ये सब तो बड़े शुभ ग्रह हैं, किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ—इसकी अन्तिम गति कैसी होगी? राज्य-पाट में ही अन्त तक आसक्त तो न बना रहेगा? भगवत् भक्ति के द्वारा उत्तम लोकों की प्राप्ति के भी कोई योग पड़े हैं, इसकी जन्म लग्न में?"

विप्रों ने कहा—"राजन्! कुछ एक गड़बड़-सी बात है, किसी विप्र के शाप से ये राज्यपाट को छोड़ देंगे।"

धर्मराज घबड़ाये और बोले—"राज्य-पाट छोड़ देंगे, फिर क्या होगा? मृत्यु कैसे होगी?"

ब्राह्मणों ने कहा—"ज्योतिष के हिसाब से ऐसा आता है कि कोई तक्षक नामक नाग इन्हें डस लेगा।"

धर्मराज का मुखमण्डल फक्क पड़ गया और दुःखी होकर वे बोले—"विप्रो! यह तो अच्छी बात नहीं हुई। विष खाकर मरने से, पेड़ से गिरकर मरने से, सर्प काटने से अथवा जल में डूबकर मरने से अपमृत्यु बताई गई है।

ऐसे लोगों की सद्गति नहीं होती। इन्हें प्रेतयोनि में जाना पड़ता है। क्या अन्त में इसकी दुर्गति होगी? क्या इसे पुण्यलोकों की प्राप्ति न हो सकेगी?"

ब्राह्मणों ने कहा—"धर्मराज! आप इस बात की तनिक भी चिन्ता न करें। इसकी दुर्गति तो कभी हो ही नहीं सकती। इनकी जन्मकुण्डली में प्रव्रज्या योग, भक्तियोग—ये दोनों योग उत्तम रीति से साथ ही पड़े हैं। अतः ये शाप की बात सुनते ही राज्य-पाट, धन-धान्य, स्त्री, पुत्र सभी का परित्याग करके पुण्यतोया, दुर्गति निवारिणी, भगवती भागीरथी के तट पर जाकर बैठ जायँगे। वहाँ भक्तियोग के द्वारा श्रीहरि के चरणारविन्दों की शरण लेंगे। उसी समय स्वेच्छा से विचरते हुए श्री शुकदेवजी आ जायेंगे। उनसे ये आत्मज्ञान की जिज्ञासा करेंगे।"

धर्मराज ने पूछा—"शापित होने पर अल्पकाल में ही यह आत्मज्ञानी होकर निर्भय पद को कैसे प्राप्त कर सकता है?"

ब्राह्मणों ने कहा—"हे अच्युतप्रिय! जिनके ऊपर भगवत् कृपा होती है, जिनके ऊपर साधु महात्मा स्वतः आकर अनुग्रह करते हैं, उनके लिये संसार में दुर्लभ वस्तु कुछ नहीं है। व्यासनन्दन शुक जन्म से ही त्यागी, विरागी और सन्यासी हैं। वे कृपा कर जिसकी ओर एक बार देख दें, वही इस संसार सागर से पार होकर मुक्त हो सकता है। फिर इन्हें तो वे सात दिनों तक दिव्य-दिव्य भागवती कथाओं को सुनायेंगे। इनके सभी संशयों का छेदन करके इनके सभी जटिल प्रश्नों का उत्तर देंगे। ऋषियों की मण्डलों में, श्रीकृष्ण कथा सुनते-सुनते, भगवन्नाम सङ्कीर्तन करते-करते, तब दुर्गति कैसे हो सकती है? ये भक्तियोग के द्वारा निःसन्देह निर्भय पद को प्राप्त करेंगे। जहाँ जाकर फिर इस संसार में पुनः नहीं लौटना पड़ता।"

ब्राह्मणों की इस अन्तिम बात को सुनकर धर्मराज की चिन्ता दूर हो गई। उन्होंने सोचा—"कोई बात नहीं, यदि विप्र शाप से कृष्ण-कथा सुनने को मिले और अन्त में निर्भय पद की प्राप्ति हो, तो वह शाप, शाप न होकर

वरदान ही है। जीवन का एकमात्र फल भगवत् प्राप्ति ही है। भगवत् प्राप्ति हो जाय, तो क्षण भर का ही जीवन बहुत है। यदि भगवत्-प्राप्ति न हो और एक कल्प की आयु हो तो भी निरर्थक है।" यही सब सोचकर वे बड़े प्रमुदित हुए। उन्होंने उन ज्योतिष के ज्ञाता विप्रों की अनेक वस्त्र, आभूषण तथा रत्न आदि सामग्रियों के द्वारा विधिवत् पूजा की।

इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर को बालक परीक्षित् का भविष्य बताकर और उनके द्वारा की हुई पूजा को ग्रहण करके वे जातकलग्न के फलों को जानने वाले ब्राह्मण अत्यन्त हर्ष के साथ अपने-अपने घरों को चले गये।

छप्पय

हुङ्गे कृष्ण समान कुलागत काज करिङ्गे।
करि दुष्टनिको दमन दुखितके दुःख हरिङ्गे।।
क्रोधित बालक विप्र शापतें शापित हुङ्गे।
सर्व सङ्ग निर्मुक्त हीहिं हरि कथा सुनिङ्गे।।
श्रीशुक स्वेच्छातें स्वतः, आके कथा सुनायँगे।
मुनि मण्डलमें त्यागि तनु, पुण्य परम पद पायँगे।।

(इसके आगे की कथा अगले खण्ड में पढ़िये)